ॐ

नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिंच तत्पुत्र पराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्री शंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्त्तिककारम् अन्यान् अस्मद् गुरून् सन्ततम् आनतोऽस्मि ॥

श्रुतिस्मृति पुराणानाम् आलयं करुणालयं ।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम्

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्य कृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः

समस्तजनकल्याणे निरतं करुणामयम् ।
नमामि चिन्मयं देवं सद्गुरुं ब्रह्मविद्वरम् ॥

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् । आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः । गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।

३.

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।

वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम् तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च ।

सबसे पहले वेदान्त को परिभाषित किया है ।

'नाम' का अर्थ है 'परिभाषा' ।

उपनिषत् – के दो अर्थ होते हैं –

- उप = पास जाना, नि = शुद्ध ज्ञान, सत् = अज्ञान का नाश । वह ज्ञान जो संसार का नाश करता है जब वह एक गुरु के पास जाकर सीखा जाता है ।

उपनिषद का मुख्य अर्थ होता है ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञानम् या प्रमा । परन्तु यह (ज्ञान/विद्या/प्रमा) तो बुद्धि में होता है । अतः मुख्य अर्थ से उपनिषत् वह विद्या है जो बुद्धि में स्थित है । इस ज्ञान को ही उपनिषद कहते हैं ।

जो लिखित रूप में हमारे पास पुस्तक होती है उसको भी उपनिषद कहते है और यह औपचारिक अर्थ होता है उपनिषद का । जब हम उपनिषद का गौण अर्थ लेते हैं और किसी पुस्तक (जोकि वेदों का हिस्सा है, लिखित है) को उपनिषद कहते हैं तब वह ज्ञान नहिं होता है अपितु प्रमाण कहलाता है क्योंकि वह ज्ञान प्राप्ति में सहायक है । अतः पह पुस्तक को अथवा शब्द रूप में जो है उसको शब्द-प्रमाण कहते हैं ।

प्रमाणं कहते हैं उस साधन को जो प्रमा (ज्ञान) प्राप्ति में सहायक होता है । यह प्रमाण ६ प्रकार के होते हैं उनमें एक शब्द प्रमाण होता है ।

यदि उपनिषद का मुख्य अर्थ लें जो कि प्रमा (बुद्धिस्थित ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मविद्या) है तो उपनिषत्प्रमाणं का अर्थ होगा – उपनिषदः प्रमाणं (षष्ठी तत्पुरुष समास) – ब्रह्मविद्यायाः (ब्रह्मज्ञान का, को प्राप्त करने का) प्रमाणं (साधनम्) । जिसकी सहायता से ज्ञान प्राप्त होगा । अतः यह (ब्रह्मज्ञान का) साधन हुआ लिखित/शब्द रूप पुस्तक । अतः इस प्रकार उपनिषत्प्रमाणं का अर्थ हुआ लिखित (मुद्रित) पुस्तक (ग्रन्थ/text) जो कि शब्द प्रमाण है ।

दूसरा अर्थ हो सकता है यदि हम उपनिषद का गौण अर्थ लें – ग्रन्थ (लिखित पुस्तक) । तो कर्मधारय समास से – उपनिषत् ग्रन्थः एव प्रमाणं इति उपनिषत्प्रमाणं ।

अतः दोनों तरीके से उपनिष्तप्रमाणं शब्द आता है – ग्रन्थ (लिखित पुस्तक), शब्द-प्रमाण । अतः यह ज्ञान नहीं है परन्तु ज्ञान प्राप्ति का साधन है । अतः **यहां 'वेदान्त' शब्द से 'उपनिषद ग्रन्थ (लिखित पुस्तक)' को परिभाषित किया जा रहा है** ।

केवल इतना ही नहीं यहां उसके (उपनिषद ग्रन्थ को समझने के लिये) सहायक (तदुपकारिणी) अन्य ग्रन्थ को भी सम्मिलित किया जा रहा है जैसे – शारीरक-सूत्राणि (ब्रह्मसूत्राणि) ।

शरीरे भवः शारीरः – शारीरी (जीवात्म, क्षेत्रज्ञः) - जो शरीर में रहता है । कुत्सित रुपेण भवति अतः शारीरकः (कः प्रत्यय इसलिये जोड़ा गया है, कुत्सितार्थे कः इति) । अतः 'शारीरक' का अर्थ हुआ - संसारि जीवात्मा । जो सूत्र संसारी जीवात्मा के विषय में बात करते हैं और इसका ब्रह्म से एक्यं दिखाते हैं उनकों ब्रह्म सूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र उत्तर मीमांसा है यह वेदान्त की मीमांसा हैं ।

आदि से अर्थ है उपनिषद के भाष्य और गीता आदि ।

जब 'वेदान्त-सार' कहते हैं तो उसमें प्रयोग हुआ 'वेदान्त' शब्द से निम्नलिखित वस्तुयें परिलक्षित हैं –

- १०८ उपनिषद ग्रन्थ
- इन उपनिषद ग्रन्थों के तत्त्व को समझने के लिये जो अन्य ग्रन्थ सहायक हैं जैसे ब्रह्म सूत्र, उपनिषद के भाष्य और गीता आदि ।

अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत्तासिद्धेः न ते पृथगालोचनीयाः।

अस्य वेदान्त-प्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुवन्धैः तद्वत्ता-सिद्धेः न ते पृथक् आलोचनीयाः ।

अनुबन्ध-चतुष्टय

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥५॥

अन्वयः – तत्र अनुबन्धः नाम अधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि।

(तत्र) वहां - पिछले श्लोक के सन्दर्भ में - (अनुबन्धः) अनुबन्ध (नाम) कहते हैं (अधिकारि) वेदान्त पढ़ने का अधिकारी, (विषय) ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय, (सम्बन्ध) प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रतिपादक ग्रन्थ का बोध्य-बोधक सम्बन्ध, तथा अध्ययन का (प्रयोजन) प्रयोजन - इन चारों को।

अब इन चारों का व्यख्यान करेंगें

अधिकारी

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनपाततोऽधिगताखिल-वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिक-प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता॥६॥

अन्वयः – अधिकारी तु विधिवद्-अधीत-वेद-वेदाङ्गत्वेन आपाततः अधिगत-अखिल-वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्य-निषिद्ध-वर्जन-पुरःसरं नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासना-अनुष्ठानेन निर्गत-अखिल-कल्मषतया नितान्त-निर्मल-स्वान्तः साधन-चतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता ।

(अधिकारी तु) अधिकारी वह है जिसको, (विधिवद्-अधीत-वेद-वेदाङ्गत्वेन आपाततः) विधिवत वेद-वेदांगों का अध्ययन करने के द्वारा (अधिगत-अखिल-वेदार्थः) समस्त वेदार्थ प्राप्त हो गया है (अस्मिन् जन्मनि) इस जन्म में (जन्मान्तरे वा) अन्यथा किसी और जन्म में। जिसनें (काम्य-निषिद्ध-वर्जन-पुरःसरं) काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर दिया है और फिर (नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासना) नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों के (अनुष्ठानेन) अनुष्ठान के द्वारा (निर्गत-निखिल-कल्मषतया) समस्त पापों और मलिनता का नाश कर (नितान्त-निर्मल-स्वान्तः) अन्तःकरण को अत्यन्त निर्मल कर लिया है। ऐसा (साधन-चतुष्टय-सम्पन्नः) साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी ही (प्रमाता) प्रमा अर्थात यथार्थ ज्ञान को ग्रहण करने के योग्य प्रमाता है।

यहां पर बताया है कि वेदान्त का अध्ययन करने का अधिकारी व्यक्ति वह है जिसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल है और जो साधन चतुष्टय सम्पन्न है। अपि च यह भी बताया है कि यह चित्त शुद्धि उस प्रमाता नें कैसे प्राप्त की है –

१. सर्वप्रथम विधिपूर्वक ४ वेद और ६ वेदांगों का अध्ययन करना चाहिये – सर्वप्रथम उपनयन संस्कार के बाद किसी गुरु से इनका अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार करने से ही समस्त वेदों का अर्थ समझ में आयेगा। कहीं कहीं देखा जाता है किसी व्यक्ति नें विधिवत् वेदाध्ययन नहीं किया फिर भी उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया। उनके विषय में कहते हैं कि उन्होंनें अपने पूर्व जन्म में उनका अध्ययन किया होगा और उसके फल स्वरूप इस जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया।
२. वेदाध्ययन से जो कर्म-विधान ज्ञात हुआ है उसका अनुसरण करते हुये काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। नित्य और नैमित्तिक कर्म किये जा सकते हैं। पापों से मुक्ति पाने के लिये प्रायश्चित्त और चित्त शुद्धि के लिये उपासना की जाती है।

प्रस्तुत श्लोक में जिन कर्मों का नाम लिया है उनका विस्तार आगे करते हैं -

काम्यानि - स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि॥७॥

अन्वयः – काम्यानि – स्वर्ग-आदि-इष्ट-साधनानि ज्योतिष्टोम् आदीनि।

(काम्यानि) काम्य कर्म वो हैं जो (स्वर्ग-आदि-इष्ट-साधनानि) स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थों को प्राप्त करने के साधन के रूप में किये जाते हैं – उदाहरण स्वरूप – ज्योतिष्टोम्।

काम्य कर्म वह हैं जिनसे कोई भौतिक सुखदाई वस्तु प्राप्त होती है। धन अथवा विषय भोग प्राप्त करने के लिये कर्म करना अथवा तो स्वर्ग आदि की कामना से यज्ञ करना यह सब काम्य कर्म हैं और ब्रह्मज्ञान प्राप्ति में बाधक है।

निषिद्धानि - नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मण-हननादीनि॥८॥

अन्वयः - निषिद्धानि – नरक आदि अनिष्ट साधनानि ब्राह्मण-हनन-आदीनि।

(निषिद्धानि) निषिद्ध कर्म वह हैं जो (नरक आदि अनिष्ट साधनानि) नरक आदि अनिष्ट के साधन हैं जैसे (ब्राह्मण-हनन-आदीनि) ब्रह्मण हत्या आदि।

निषिद्ध कर्म सर्वथा त्याज्य हैं उनके कारण मनुष्य इस लोक में दुःख पाता है और मरने के बाद नरक के कष्ट भोगता है। शास्त्र ऐसे कर्मों का निषेध करते हैं।

नित्यानि - अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।

अन्वयः - नित्यानि - अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि सन्ध्यावन्दन-आदीनि।

(नित्यानि) नित्य कर्म वह होते हैं जिनके (अकरणे) न करने से (प्रत्यवाय) दोष के (साधनानि) साधन हो जाते हैं; जैसे सन्ध्यावन्दन आदी।

नित्य कर्म से तात्पर्य है कर्तव्य कर्म। इनके न करने से दोष लगता है और चित्त में मलिनता आती है। मन को शान्त और शुद्ध रखने के लिये इन कर्मों को नित्य करते रहना अत्यन्तावश्यक है।

नैमित्तिकानि - पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।

अन्वयः - नैमित्तिकानि – पुत्र-जन्म-अनुबन्धीनि जातेष्टि-आदीनि।

(नैमित्तिकानि) नैमित्तिक कर्म वह होते हैं जो कोई निमित्त या कारण उपस्थित होने पर किये जाते हैं जैसे (पुत्र-जन्म-अनुबन्धीनि) पुत्र जन्म के समय पर विहित (जातेष्टि-आदीनि) जातकर्म आदि संस्कार।

नैमित्तिक कर्म भी कर्तव्य कर्म हैं पर यह नित्य नहीं किये जाते हैं। यह किसी विशेष परिस्थिति या अवसर पर किये जाते हैं। जातेष्टि एक ऐसा कर्म है पुत्र जन्म के अवसर पर किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता (२.२.५.३) में इसका आदेश मिलता है – "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्र जाते।"

प्रायश्चित्तानि - पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

अन्वयः - प्रायश्चित्तानि – पाप-क्षय-साधनानि चान्द्रायण-आदीनि।

(प्रायश्चित्तानि) प्रायश्चित्त कर्म उनको कहते हैं जो कि (पाप-क्षय-साधनानि) पाप का क्षय करनें के साधन होते हैं – जैसे चान्द्रायण आदि व्रत।

पाप कर्म के दूषित फल से बचने के लिये प्रायश्चित्त किये जाते हैं। चान्द्रायण व्रत में चन्द्रमा के घटने के साथ भोजन नित्य थोड़ा थोड़ा घटाया जाता है और चन्द्रमा के बढ़ने के साथ थोड़ा थोड़ा बढ़ाया जाता है। यह एक माह का व्रत होता है।

उपासनानि - सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

अन्वयः - उपासनानि – सगुण-ब्रह्म-विषय-मानस-व्यापार-रूपाणि शाण्डिल्य-विद्या-आदीनि।

(उपासनानि) उपासना (सगुण-ब्रह्म-विषय) सगुण ब्रह्म के विषय में (मानस-व्यापार-रूपाणि) मानस व्यापार या चिन्तन हैं, जैसे- शाण्डिल्य-विद्या-आदि।

सगुण ब्रह्म का चिन्तन उपासना है। उपासना तीन प्रकार की होती है

१. कायिक – जैसे पञ्चोपचार, षोडशोपचार पूजनादि।
२. वाचिक – जैसे स्तोत्र पाठ करना भजन करना आदि।
३. मानसिक – जैसे जप और ध्यान करना।

यह चित्त को एकाग्र करने का सशक्त साधन है। माया की उपाधि धारण करने वाले ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं।

शाण्डिल्य विद्या एक वैदिक उपासना है। छान्दोग्य उपनिषद में इसका वर्णन है – "सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्तं उपासीत्" – (३.१४.१) – यह सब जगत ब्रह्म ही है। जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का वही कारण है। मन को शान्त रखकर उसकी उपासना करनी चाहिये।

भगवान श्रीराम या श्रीकृष्ण की उपासना करना पौराणिक उपासना है।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृ उ ४ । ४ । २२) इत्यादि श्रुतेः "तपसा कल्मषं हन्ति" (मनु १२ – १०४) इत्यादि स्मृतेश्च॥१३॥

अन्वयः – एतेषाम् नित्य आदीनाम् बुद्धिशुद्धिः परम् प्रयोजनम् उपासनानाम् तु चित्त एकाग्र्यम् 'तम् एतम् आत्मानमं वेद-अनुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि स्मृतेश्च।

(एतेषाम्) इनमें से (नित्य आदीनाम्) नित्य आदि कर्मों का (परम् प्रयोजनम्) परम प्रयोजन (बुद्धिशुद्धिः) बुद्धि शुद्धि है। (उपासनानाम् तु) और उपासना का परम प्रयोजन (चित्त एकाग्र्यम्) चित्त की एकाग्रता है। (तम् एतम् आत्मानमं) इस आत्मा को जानने के लिये (वेद-अनुवचनेन) वेद वाक्यों के द्वारा (ब्राह्मणा) ब्राह्मण (विविदिषन्ति) कामना करते हैं (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा (इत्यादि श्रुतेः) इस प्रकार के श्रुति प्रमाण हैं। ('तपसा कल्मषं हन्ति') तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं (इत्यादि स्मृतेश्च) इस प्रकार स्मृति प्रमाण हैं।

आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये चित्त शुद्ध और एकाग्र होना चाहिये। पहले नित्य नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मों के द्वारा चित्त शुद्ध करना चाहिये उसके बाद क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म स्तर की उपासनायें करते हुये अपने मन को एकाग्र करना चाहिये।

14

नित्यनैमित्तिकयोः उपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः" (बृ उ १- ५- १६) इत्यादिश्रुतेः॥१४॥

अन्वयः – नित्य-नैमित्तिकयोः उपासनानां तु अवान्तर फलम् पितृलोक-सत्यलोक-प्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' इत्यादि श्रुतेः।

(नित्य-नैमित्तिकयोः उपासनानां) नित्य आदि कर्म और उपासना का (अवान्तर) दूसरा या गौण (फलम्) फल (पितृलोक-सत्यलोक-प्राप्तिः) पितृलोक और सत्यलोक आदि उच्च लोकों की प्राप्ति भी होता है, (कर्मणा) वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा (पितृलोकः) पितृलोक की प्राप्ति होती है और (विद्यया) उपासना के द्वारा (देवलोकः) देवलोक की (इत्यादि श्रुतेः) इस प्रकार श्रुति प्रमाण हैं।

नित्य और नैमित्तिक लौकिक कर्म हैं और इनको करने वाला शरीर त्याग कर पितृलोक (भुवर्लोक) में जाता है। उपासना एक आध्यात्मिक कर्म होने के कारण श्रेष्ठ फल देती है और उसका साधक पितृलोक के ऊपर सत्यलोक में जाता है।

१५

साधनानि- नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग-शमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।

अन्वयः – साधनानि – नित्य-अनित्य-वस्तु विवेक, इह अमुत्र अर्थ-फल-भोग-विराग, शम-आदि-षट्क-सम्पत्ति-मुमुक्षुत्वानि।

अन्वयार्थः – (साधनानि) वह ४ साधन हैं – (नित्य-अनित्य-वस्तु विवेक) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, (इह) यहां इस लोक में, और (अमुत्र) परलोकों में (अर्थ-फल-भोग-विराग) कर्म के फल रूपी प्राप्त भोगों से वैराग्य, (शम-आदि-षट्क-सम्पत्ति) शम आदि छः सम्पत्तियाँ तथा (मुमुक्षुत्वानि) मुमुक्षुत्व।

इनका विस्तार आगे के श्लोकों में करते हैं -

१६

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम् ॥१६॥

अन्वयः – नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः तावद् ब्रह्म एव नित्यं वस्तु ततः अन्यद् अखिलम् अनित्यम् इति विवेचनम्॥

अन्वयार्थः – (नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः) नित्यानित्यवस्तुविवेक इस शब्द का (तावद्) अर्थ हुआ (ब्रह्मैव) एकमात्र ब्रह्म ही (नित्यं वस्तु) नित्य वस्तु है और (ततः) उसके (अन्यद्) अतिरिक्त (अखिलम्) सब कुछ (अनित्यम्) अनित्य है (इति) इस प्रकार का (विवेचनम्) विवेचन करना।

विवेक शब्द बना है – "विजिर् पृथग्भावे" धातु से जिसका अर्थ होता है – अलग भाव (होना)। विवेक शब्द का अर्थ होता है अलग करना। इस प्रकार बुद्धि से अलग करने को विवेचन करना कहते हैं। अपने लिये अच्छे बुरे का विवेक करना, एक वस्तु से अन्य वस्तु को अलग करना इस प्रकार का विवेक सामान्यतः सबके अन्दर होता है परन्तु यहां साधनों में एक विशेष प्रकार का विवेक अपेक्षित होता है और वह है – नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक। नित्य वह है जिसका किसी भी काल में अभाव नहीं है - – नाभावो विद्यते सतः, जो तीनों भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल में विद्यमान है – त्रिकालेऽपि यत् तिष्ठति । एकमात्र ब्रह्म ही सदा विद्यमान नित्य वस्तु है। इसके विपरीत जो कुछ भी है वह अनित्य और असत् है – नासतो विद्यते भावः। विवेक पहला साधन है और उसी के फलस्वरूप अनित्य और असत् जगत् से वैराग्य उत्पन्न होता है।

१७

ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्ववद् आमुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः ॥१७॥

अन्वयः – एहिकानाम् स्रक्-चन्दन-वनिता-आदि-विषय-भोगानाम् कर्मजन्यतया-अनित्यत्ववत् आमुष्मिकाणाम् अपि अमृत-आदि-विषय-भोगानाम् अनित्यतया तेभ्यो नितराम् विरतिः – इह-अमुत्र-फलभोग-विरागः।

अन्वयार्थः – (एहिकानाम्) इस लोक में (स्रक्) फूलों की माला (चन्दन) चन्दन (वनिता) स्त्री (आदि) आदि जो (विषय-भोगानाम्) विषय भोग हैं वह (कर्मजन्यतया) कर्मजन्य होने के कारण (अनित्यत्ववत्) अनित्य है, इसी प्रकार (आमुष्मिकाणाम्) परलोक से संबंध रखने वाले (अपि) भी (अमृत-आदि) देवत्व आदि स्वर्गलोक और अन्य लोकों के (विषय-भोगानाम्) विषय भोग भी (अनित्यतया) अनित्य हैं, एसा जानकर (तेभ्यो) इन दोनों के प्रति (नितराम्) नितान्त (विरतिः) वैराग्य होना, (इह-अमुत्र-फलभोग-विरागः) इहामुत्रफलभोगविरागः इस शब्द का अर्थ है।

माला से अर्थ है प्राप्त होने वाला सम्मान पद प्रतिष्ठा आदि। चन्दन से अर्थ है जो शारीरिक सुन्दरता और अपने को सवांरने का भाव आदि है और नारी से तात्पर्य है कि विषय भोग। इस प्रकार एक एक शब्द से पूरा समूह समझना चाहिये। जो भी कर्मजनित फल होते हैं वह क्षणिक और अनित्य होते हैं। जिस प्रकार इस लोक में हमार प्रत्यक्ष अनुभव है कि सभी कुछ क्षणभंगुर है इसी प्रकार हमारे कर्मों से परलौकिक सुख उत्पन्न होंगे वह भी अनित्य ही होंगे। स्वर्गलोक की अमरता भी सापेक्ष है। वह पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है उसके क्षीण हो जाने पर समाप्त हो जाती। इसके श्रुति और स्मृति प्रमाण भी हैं –

"तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेव अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।" (छान्दोग्योपनिषद् ८-१-६)।

"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्। ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोक विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशान्ति॥" (गीता ९-२१)।

ऐसे अनित्य सुख भोगों में अनन्त दुःख ही है। ऐसे समझकर उनसे वैराग्य होता है।

१८ षट्क सम्पत्ति

शमादयस्तु - शमदमोपरतितितिक्षासमाधान –श्रद्धाख्याः ॥१८॥

अन्वयः – शमादयः तु – शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा-आख्याः।

अन्वयार्थः – (शमादयः तु) शमादि षट्क सम्पत्ति का – शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा (आख्याः) इस प्रकार व्याख्यान करते हैं।

वैराग्य के फलस्वरूप इन सम्पत्तियों की वृद्धि होती है - इनका विवरण आगे देते हैं –

१९ शमः

शमस्तावत् - श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः॥१९॥

अन्वयः – शमः तावत् – श्रवणादि-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यः मनसः निग्रहः।

अन्वयार्थः – (शमः) शम (तावत्) होता है – (श्रवणादि) शास्त्र के श्रवन मनन और निदिध्यासन (व्यतिरिक्त) के अतिरिक्त (विषयेभ्यः) अन्य समस्त विषयों से (मनसः) मन का (निग्रहः) निग्रह करना हटा लेना।

शब्दस्पर्शादि जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमे मन की रुचि न होना शम कहलाता है। किन्तु तत्त्वज्ञान के साधन - श्रवण-मनन-निदिध्यासन में रुचि अवश्य होनी चाहिये।

तत्त्वबोध – शमः कः? अन्तरिन्द्रियनिग्रहः।

२० दमः

दमः - बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्॥२०॥

अन्वयः – दमः बाह्य-इन्द्रियाणाम् तद् व्यतिरिक्त-विषयेभ्यो निवर्तनम्।

अन्वयार्थः – (दमः) दम कहते हैं (बाह्य-इन्द्रियाणाम्) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इत्यादि बाह्य इन्द्रियों का (तद् व्यतिरिक्त) उन श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अतिरिक्त – यहां 'तद्' से पूर्व श्लोक में तात्पर्य है- (विषयेभ्यो) अपने अपने विषयों से (निवर्तनम्) निग्रह करना।

ज्ञान का साधन तो श्रवणादि इन्द्रियां ही हैं उन्ही से हम गुरु के उपदेश का श्रवण करते हैं। अतः श्रवण मनन और निदिध्यासन तो करने ही चाहिये क्योंकि यही मोक्षप्राप्ति के साधन हैं परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिये। यदि इन्द्रियाँ और मन विषयों के भोग में लगे रहे तो यह ज्ञान प्राप्ति में बाधक होगा।

दमः कः? बाह्येन्द्रियनिग्रह।

२१ उपरति

निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः॥२१॥

अन्वयः – निवर्तितानाम् एतेषां तद् व्यतिरिक्त-विषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः अथवा विहितानाम् कर्मणाम् विधिना परित्यागः।

अन्वयार्थः – (निवर्तितानाम्) विषयों से हटाई हुई (एतेषां) इन मन और इन्द्रियों का (तद्) श्रवण-मनन-निदिध्यासन से (व्यतिरिक्त-विषयेभ्यः) अतिरिक्त सभी विषयों से (उपरमणम्) विरक्ति (अथवा) और दूसरी परिभाषा के अनुसार (विहितानाम्) नित्य-नैमित्तिक आदि (कर्मणाम्) कर्मों को (विधिना) शास्त्रोक्त विधि के द्वारा (परित्यागः) परित्याग करना।

उपरति और शम-दम में सूक्ष्म अन्तर है। शम-दम का अर्थ है विषयों से मन और इन्द्रियों को हटाना और उपरति का अर्थ है उस अवस्था को स्थिर रखना क्योंकि मन और इन्द्रियां पुनः अपने विषयों मे जाने का प्रयास करेंगी। दूसरी परिभाषा का अर्थ है विविदिषा सन्यास लेना क्योंकि शास्त्रों के अनुसार केवल विधिवत् सन्यास ग्रहण करके की नित्य और नैमित्तिक कर्मों का त्याग किया जा सकता है। यदि ग्रहस्थाश्रम में व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त हो भी

जाता है और उसका कर्मों में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है फिर भी वह नित्य-नैमित्तिक कर्मों का परित्याग नहीं कर सकता। भगवान राम और भगवान कृष्ण का जीवन इसका उदाहरण है।

यहां तत्त्वबोध से अलग परिभाषा है और २ परिभाषायें हैं।

उपरमण – विरक्ति, निवृत्ति

तत्त्वबोध – उपरतिः कः? प्रपञ्चेभ्य उपरमणम्।

Maintaining the status quo. In shama and dama we would have withdrawn the mind and sense organs. But they run back to sense objects in only. Restraining them to same position without allowing them to go again outwards is called uparati.

Shama dama is withdrawal. Uparati is maintaining of withdrawan condition.

Nivartitanam – which are already withdrawan etesham - indriyanaam uparamanam – keeping them withdrawan.

Other definition – Vividisha sanyasi – giving up all nitya naimittik karma as prescribed in shastras (vidhina parityagah) because according to shashtras as long as person is in grihastha ashrama, his nitya naimittik karma cannot be renounced.

In gita 18th chapter – niyatasya tu sannyasah karmano na upapadyate…

As long as person continues in grighasth he cannot give up nitya naimittika karma.

Even if someone has obtained moksha then also as long as he continues in grihastha ashrama he has to do nitya naimittika karma.

Yadi karma se sanyasa lena hai to ashram se bhi sanyasa lena padega. Either give up both ashrama and karma both or take both.

Vidvata sanyas ke liye koi vidhi nahi hai. It is natural consequence of gyanam.

But for vividisha sanyasa vidhi is there.

22

तितिक्षा - शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।

खुशी से त्यागना है जैसा की विवेक चूडामणि में कहा गया है।

23

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः - समाधानम्।

अन्वयः – निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तद् अनुगुण-विषये च समाधिः – समाधानम्।

अन्वयार्थः – (निगृहीतस्य) निग्रहित किये हुये (मनसः) मन को (श्रवणादौ) श्रवण-मनन-निदिध्यासन में, तथा (तद्) इनके (अनुगुण) सहायक (विषये) विषयों में (समाधिः) स्थिर रखना, कहते है – समाधानम्।

शम और दम से मन को व्यर्थ की वस्तुओं से हटाया गया है। उपरति से उनको उस मनःस्थिति को स्थिर रखा गया है।

जैसे धन का व्यर्थ न व्यय करना शम और दम हैं और उसको bank में जमा करके रखना उपरति है। परन्तु यह जमा पूंजी को सही समय पर खर्च रखने के लिये हि रखा है। सही समय पर उसको खर्च करना समाधान है।

हम भी इसी प्रकार अपनी शक्ति और सामर्थ्य को व्यर्थ के विषयों में नष्ट कर रहे हैं। उन व्यर्थ के विषयों से अपने मन और इन्द्रियों को हटाना है – इसका नाम शम और दम है। फिर इनको वापस विषयों में जाने नहीं देना है – यह उपरति हो गई। अब हमारे पार मानसिक शक्ति और सामर्थ्य है अब इस सामर्थ्य को प्रयोग मोक्ष प्राप्ति के साधन में करना है। वह साधन है गुरु उपदिष्ट वेदान्त वाक्यों का श्रवण मनन और निदिध्यासन और इसमें ही मन को स्थिर रखना समाधान है। समाधि का अर्थ होता है स्थिर रखना या एकाग्र करना।

Damming the river. When we don't allow water to go else where is is shama dama. Dam (बांध) an store is uparati and channelizing for irrigation is samaadhaanam.

यहां पर शास्त्र और गुरु के उपदेश पर मन को एकाग्र करना है।

तद् अनुगुण विषये – और कोई जो सहायक हो इन तीनों का जैसे वैराग्य, अमानित्व आदि विषय, तर्क मींमांसा व्याकरण आदि। शम दम आदि में।

तत्त्वबोध में कहा है चित्तैकाग्रता केवल इतना कहा गया है। यहां पर किसमें यह भी बताया गया है।

24

गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः - श्रद्धा।

अन्वयः – गुरु-उपदिष्ट-वेदान्त-वाक्येषु विश्वासः – श्रद्धा।

अन्वयार्थः - (गुरु उपदिष्ट) गुरु के द्वारा उपदेश किये हुए (वेदान्त-वाक्येषु) वेदान्त के वाक्यों में (विश्वासः) विश्वास करना – श्रद्धा कहलाता है।

अब यह समझा जा सकता है कि यह अन्धविश्वास या blind belief होगी क्या? प्रश्न यह उठता है कि यदि शास्त्र कुछ तर्क-असंगत (illogical) कहता है तो क्या उसको आंख बन्द करके मान लेना चाहिये? यदि नहीं मानते हैं और वेदान्त वाक्यों पर प्रश्नचिह्न उठाते हैं तो अश्रद्धा हुई और यदि मानते हैं तो अन्धविश्वास हुआ?

वास्तव में हमें वेदान्त वाक्यों पे नहीं अपितु अपनी समझ पर प्रश्नचिह्न उठाना चाहिये। शास्त्रवाक्यों में कुछ भी तर्क-असंगत/illogical नहीं है यदि हमें लगता है कि वह illogical हैं तो यह इसलिये हैं क्योंकि हमारी समझ ठीक नहीं है। हमारी समझ illogical है न कि शास्त्रवाक्य। इसके समाधान के लिये हमें गुरुजनों से बार बार तब तक प्रश्न करना चाहिये जब तक की हमारी बुद्धि उसको ठीक से समझ न जाये और वह हमको तर्कसंगत/logical न लगने लगे।

इसका सबसे उत्तम उदाहरण भगवद्गीता है जिसमें अर्जुन श्रीकृष्णसे अनेक प्रश्न करता है – 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे' – अर्जुन कहता कि आपके वाक्यों से मेरी बुद्धि मोहित हो रही है इसलिये कृपया पुनः बतायें। यहीं शंका समाधान का सूत्र है – तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

25

मुमुक्षुत्वम् - मोक्षेच्छा।

अन्वयः – मुमुक्षुत्वम् – मोक्ष-इच्छा।

अन्वयार्थः – (मुमुक्षुत्वम्) मुमुक्षुत्व कहते हैं – मोक्ष-इच्छा को।

Only other kama then moksha are asked to be given. We should have desire for mokhsa also.

Giving up of all desires that are obstacles to Vedanta vichara. Only mokhsa is the iccha promotes Vedanta vichara.

26

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "शान्तो दान्तः" (बृ उ ४।४।२३) इत्यादिश्रुतेः । उक्तञ्च – "प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे" (उपदेशसाहस्री ३२४।१६।७२) ॥२६॥

अन्वयः – एवम् भूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' इत्यादि श्रुतेः। उक्तम् च – 'प्रशान्त-चित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीण-दोषाय यथोक्त-कारिणे। गुणान् विताय अनुगताय सर्वदा प्रदेयम् एतत् सकलम् मुमुक्षवे॥' इति।

अन्वयार्थः – (एवम् भूतः) इस प्रकार साधन चतुष्टय से सम्पन्न (प्रमाता) जिज्ञासु को (अधिकारी) वेदान्त का अधिकारी कहते हैं, जैसा कि '(शान्तो दान्तः)' 'जिसका मन तथा इन्द्रियां संयमित हैं' (इत्यादि श्रुतेः) इत्यादि श्रुतियों में कहा है। (उक्तम् च) साथ ही यह भी कहा गया है – '(प्रशान्त-चित्ताय) प्रशान्त चित्तः यस्य सः - जिसका चित्त शान्त है अर्थात जिसमें शम है, (जितेन्द्रियाय) जितानि इन्द्रियाणि येन सः तस्मै – जिसकी इन्द्रियां उसके वश में हैं अर्थात दम से सम्पन्न (च) और (प्रहीण-दोषाय) प्रहीणाः दोषाः येन सः जिसके दोष क्षीण हो चुके हैं अर्थात जिसके राग-द्वेष आदि क्षीण हो चुके हैं, जिसमें वैराग्य आ चुका है (यथोक्त-कारिणे) शास्त्रेण यथा उक्तं तथा करोति इति यथोक्तकारी – जैसा की शास्त्रों में नित्य और नैमित्तिक कर्मादि उपदिष्ट हैं उनका उस प्रकार से अनुष्ठान करने वाला – जो आज्ञाकारी और विनम्र है। (गुणान् विताय) जिसमें शास्त्रों के द्वारा वर्णित गुण हैं जैसे अमानित्व, उपरति, विवेक, समाधान आदि (अनुगताय सर्वदा) जो सर्वदा अपने गुरु का अनुसरण करता है और उनकी सेवा करता है और श्रद्धावान है (प्रदेयम्) प्रदान करना चाहिये (एतत्) ज्ञान को (सकलम्) संपूर्णतया (मुमुक्षवे) मुमुक्षु को॥ ' इति।

यहां पर प्रमाण दिया गया है। यह चर्चा अन्य ग्रन्थों में भी हुई है और श्रुति के प्रमाण भी हैं।

उपदेशसाहस्री के श्लोक में मुख वाक्य है – (एतत्) यह ज्ञान (सकलम्) संपूर्णतया (मुमुक्षवे) मुमुक्षु को (प्रदेयम) प्रदान करना चाहिये। बाकी सारे उस मुमुक्षु के विशेषण हैं। कई जगह पाठभेद में 'सकलं' के स्थान पर 'सततम्' भी होता है जिसका अर्थ होगा सर्वदा देना चाहिये।

इस प्रकार अधिकारी के लक्षण कहे गये। यहां पर न केवल यह बताया है कि अधिकारी के लक्षण क्या हैं अपितु यह भी बताया है कि अधिकारित्व कैसे प्राप्त करना है – काम्य निषिद्ध कर्म वर्जन पुरःसरं, नित्य नैमित्तिक उपासना अनुष्ठानम् एव अधिकारित्व साधनं। नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानम् चित्त शुद्धि जनयति उपासना कर्म अनुष्ठानं चित्त नैश्चैल्यं च जनयति। चित्तशुद्धिः चित्तनैश्चल्यञ्च साधन-चतुष्टयमिति उच्यते। नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान से चित्त शुद्धि प्राप्त होती है और उपासना से चित्त एकाग्र होता और है और इस को ही साधन-चतुष्टय सम्पन्न चित्त कहते हैं।

27

विषयः - जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात्॥२७॥

अन्वयः – विषयः जीव-ब्रह्म-ऐक्यम् शुद्ध-चैतन्यम् प्रमेयम् तत्र एव वेदान्तानाम् तात्पर्यात्।

अन्वयार्थः – (विषयः) ग्रन्थ का विषय है (जीव-ब्रह्म-ऐक्यम्) जीव और ब्रह्म दोनों एक ही अखण्ड (शुद्ध-चैतन्यम्) शुद्ध चैतन्य हैं (प्रमेयम्) यह ही जानने योग्य अथवा अज्ञात है। और यही विषय इसलिये हैं क्योंकि (तत्र एव) यहां ही (वेदान्तानाम्) वेदान्त ही (तात्पर्यात्) तात्पर्य होने के कारण।

प्रयोजन है जीव और ब्रह्म का ऐक्यं। यहां ऐक्यं का अर्थ योग या मिलना या union/merger आदि नहीं है क्योंकि मिलना तो उसका होता है जो अलग हों। यहां ऐक्य से तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म दोनों ही अखण्ड एकरस शुद्ध चैतन्य हैं। जीव और ब्रह्म दो वस्तु नहीं हैं यह एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

प्रमेय उसको कहते हैं जो अज्ञात हो, जिसको जानना हो, जो प्रमाण का विषय हो।

वेदान्त में तो कई विषय की चर्चा है जैसे अन्नमय कोश सृष्टि प्रकरण आदि आदि फिर यह कैसे कहा कि वेदान्त का यही तात्पर्य है? उपक्रम आदि ६ लिङ्गों से हम वेदान्त का तात्पर्य निश्चित करते हैं। इनक विवरण इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दिया जायेगा।

Jaise vote speech me he will talk about china, rice problem, curroption but ultimate purport is – give vote.

अब तक हमको यह भी पता चल गया है –

- प्रमाता - अधिकारी
- प्रमेयं - जीवब्रह्मैक्यं
- प्रमाण – वेदान्त (गुरु उपदिष्ट)

जब यह तीनों साथ आते हैं तो प्रमा – यर्थाथ (ब्रह्म) ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इनमें से यदि कोई भी कम है तो ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।

28

सम्बन्धस्तु - तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः ॥२८॥

अन्वयः - तद् ऐक्य-प्रमेयस्य तत्-प्रतिपादक-उपनिषत्-प्रमाणस्य च बोध्य-बोधक-भावः।

अन्वयार्थः – (तद्) वह जो जीव-ब्रह्म में (ऐक्य) ऐक्य है और जो (प्रमेयस्य) प्रमेय है उसका और (तत्) इस ऐक्य का (प्रतिपादक) प्रतिपादन करने वाले (उपनिषत्-प्रमाणस्य) उपनिषद् प्रमाण का (बोध्य-बोधक-भावः) बोध्य बोधक भाव है।

सम्बन्ध किसी दो सम्बन्धी/वस्तु के मध्य में होता है। यह संबन्ध अन्य अन्य पुस्तकों में अलग होता है क्योंकि वह कई बार अलग अलग वस्तुओं का चुनाव करते हैं। जैसे यदि हम 'ज्ञान' और 'प्रयोजन' लें तो – ज्ञान और मोक्ष (जो कि प्रयोजन) है के मध्य में – जनक-जन्य सम्बन्ध है क्योंकि ज्ञान मोक्ष को उत्पन्न करता है। ज्ञान जनक है जो कि मोक्ष को उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार यदि 'उपनिषद् ग्रन्थ' और 'विषय' (जीवब्रह्मैक्यं) लें तो उनमें बोध्य-बोधक या फिर प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध होता है क्योंकि उपनिषद् जिस विषय का प्रतिपादन करते हैं वह जीवब्रह्मैक्यं है। यह सम्बन्ध ही इस ग्रन्थ में लिया गया है। उपनिषद् एव प्रमाणं – उपनिषद् वह प्रमाण हैं जो हमें जीवब्रह्मैक्यं का बोध कराता है।

यहां ग्रन्थ (प्रमाण) और विषय (प्रमेय) के मध्य में संबंध लिया है। तत् – तयोः – जीव ब्रह्मणोः ऐक्यं है प्रमेयं। ऐक्यं एव प्रमेयं। उपनिषद् एव प्रमाणं। तत् (ऐक्य) प्रतिपादक उपनिषद् जो कि प्रमाण है वह प्रमाण है।

कई बार कर्म काण्ड मे – विधायक (चोदना) और विधेय (चोद्य) सम्बन्ध होता है। विधायय वह होता है जो विदि का आदेश देता है और विधेय वह होता है जो कर्तव्य होता है या करना चाहिये।

२९

प्रयोजनं तु - तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकम् आत्मवित् (छां उ ७।१।३) इत्यादिश्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " (मुण्ड उ ३।२।९) इत्यादिश्रुतेश्च॥२९॥

अन्वयः – तत् ऐक्य प्रमेय गत अज्ञान निवृत्तिः स्व-स्वरूप-आनन्द-अवाप्तिः च "तरति शोकम् आत्मवित्" इत्यादि श्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतेः च।

अन्वयार्थः – (तत् ऐक्य प्रमेयगत) वह जो प्रमेय, जीव ब्रह्म ऐक्य, के विषय में (अज्ञान) अज्ञान है उसकी (निवृत्तिः) दूर होना तथा (स्व-स्वरूप) अपने स्वरूप के (आनन्द) आनन्द की (अवाप्तिः) प्राप्ति "(तरति) पार हो जाता है (शोकम्) शोकों से (आत्मवित्) आत्मज्ञानी" (इत्यादि श्रुतेः) इस श्रुति में निर्दिष्ट है और "(ब्रह्मविद्) ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मैव) ब्रह्म ही (भवति) हो जाता है" (इत्यादि श्रुतेः च) इत्यादि श्रुति से भी निर्दिष्ट है।

प्रयोजन का अर्थ होता है लाभ या फल। इससे क्या मिलेगा? क्या फायदा होगा? तत्काल लाभ तो यह होगा कि प्रमा/विद्या/ज्ञान प्राप्त होगा क्योंकि जब प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय साथ होते हैं तो प्रमा उत्पन्न होती है। इस प्रमा या ब्रह्मविद्या के परिणामस्वरूप लाभ क्या होगा? ज्ञान, अज्ञान को निवृत्ति करना है नाश करता है। अज्ञान निवृत्ति का परिणाम होता है कि अज्ञान का जो कार्य (शोकमय संसार) है उसकी निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञान प्राप्तिः, तेन अज्ञान निवृत्तिः तेन, (शोकमय) संसार निवृत्तिः (नष्ट) । यह तो हो गये निवृत्ति/नष्ट रूप।

अब लाभ-रूप होता है आनन्द प्राप्ति। परन्तु यदि आनन्द आयेगा तो वह चला भी जायेगा अतः कहा है स्व-स्वरूप-आनन्द प्राप्तिः – जो स्वाभाविक आनन्द है – अतः यह कभी जायेगा नहीं क्योंकि स्वरूप का नाश होता नहीं है अतः इस आनन्द का कभी नाश नहीं होगा।

प्रमेय-गत-अज्ञान निवृत्तिः। किसका अज्ञान – प्रमेय गत अज्ञानं। नियम यह है – अज्ञान-ज्ञानयोः बाध्यबाधक सिद्ध्यर्थम् समानविषयत्वं वक्तव्यं। न केवल समानविषयत्वं वक्तव्यं समान आश्रयं अपि वक्तव्यं। ज्ञान अज्ञान का बाध कर देता है। अतः ज्ञान बाधक है तो बाधक करता है और अज्ञान बाध्य है जिसका बाध होता है। यहां २ शर्त हैं

- समान विषयः - कोई भी ज्ञान किसी भी अज्ञान को बाधित नहीं कर सकता। उनका विषय भी समान होना चाहिये। जैसे घट का अज्ञान को बाधित केवल घट का ज्ञान ही कर सकता है। जिस विषय का अज्ञान है उसी विषय के ज्ञान से वह बाधित होगा। इसी प्रकार इतना सब दुनिया का ज्ञान होने के कारण क्यों मोक्ष नहीं मिला क्योंकि स्वरूप/आत्मा का अज्ञान केवल आत्मा के ज्ञान से निवृत्त होगा। बाकी दुनिया का ज्ञान तो अनात्मा का ज्ञान है अतः वह आत्मा के अज्ञान को नाश नहीं कर सकता।
- "समान आश्रय" – जहां अज्ञान है वहीं पर ही ज्ञान होना चाहिये। जैसे यदि एक व्यक्ति को घट का अज्ञान है तो किसी दूसरे व्यक्ति को घट का ज्ञान होने से पहले व्यक्ति के अज्ञान का नाश नहीं होगा। जिस व्यक्ति को अज्ञान है उस व्यक्ति को ही ज्ञान भी होना चाहिये इत्यर्थः। अतः आश्रय भी समान होना चाहिये।

उस ऐक्यगत अज्ञान है अतः उस ऐक्यगत ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होगी।

अज्ञान जन्य शोक की भी निवृत्ति होती है। अज्ञान निवृत्ति बीच की अवस्था है परन्तु पुरुषार्थ है शोक निवृत्तिः।

स्व-स्वरूप-आनन्द की खोज - सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः – गीता ६-२१

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते – गीता ६-२२

दो श्रुति प्रमाण है एक निवृत्ति रूप के लिये और दूसरा लाभरूप प्रयोजन के लिये।

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

अतः अनुबन्ध चतुष्टय समाप्त हुआ।

३०

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् "(मुण्ड उ १।२।१२) इत्यादिश्रुतेः।।३०।।

अन्वयः - अयम् अधिकारी जनन-मरण-आदि-संसार-अनल-सन्तप्तः दीप्तशिरा जलराशिम्-इव-उपहार-पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् गुरुम् उपसृत्य तम् अनुसरति । 'तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रहनिष्ठम्' इत्यादि श्रुतेः।

अन्वयः – (अयम्) यह (अधिकारी) अधिकारी (जनन-मरण-आदि) जन्म मृत्यु आदि के रूप में (संसार-अनल) संसार अग्नि से (सन्तप्तः) सन्तप्त होकर (दीप्तशिरा जलराशिम् इव) जैसे वह व्यक्ति जिसके सिर में आग लगी हो वह सब काम छोड़कर सरोवर में कूदता है उसी प्रकार (उपहार-पाणिः) हाथ में उपकार लेकर (श्रोत्रियम्) श्रुतियों के ज्ञाता और (ब्रह्मनिष्ठम्) ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का अपरोक्ष अनुभव रखने वाले (गुरुम्) गुरु के (उपसृत्य) पास जाकर (तम्) उनका (अनुसरति) अनुसरण करता है । '(तद्) उसे, आत्मतत्त्व को (विज्ञानार्थं) जानने के लिये (स) उसे (गुरुम् एव) गुरु के ही पास

(अभिगच्छेत्) जाना चाहिये (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लेकर (श्रोत्रियं ब्रहनिष्ठम्) जो गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हों' (इत्यादि श्रुतेः) इस प्रकार श्रुति में निर्दिष्ट है।

अनुबन्ध चतुष्टय की व्याख्या समाप्त हो गई है । अधिकारी को अब विषय का ज्ञान होना चाहिये। यद्यपि अधिकार प्राप्त हो चुका है और वेद का विधिवत् अध्ययन किया है तथापि प्रमाता अपने आप ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण नहीं कर सकता है – 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वान्तत्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्' – मुण्डकभाष्य १.२.१२। अतः उसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये। वह विधि यहां बताया है कि किस प्रकार प्रमाता को गुरु के पास जाना चाहिये । तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

३१ – स गुरुः

स गुरुः परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति "तस्मै स विद्वानुपसन्नया सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥" (मुण्ड उ १।२।१३) इत्यादिश्रुतेः॥३१॥

अन्वयः – सः गुरुः परमकृपया अध्यारोप-अपवाद-न्यायेन एनम् उपदिशति। "तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त-चित्ताय शम-अन्विताय। येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच ताम् तत्वतः ब्रह्मविद्याम्॥"

अन्वयार्थः – (सः गुरुः) वे वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु (परमकृपया) अत्यन्त कृपा (अध्यारोप-अपवाद-न्यायेन) अध्यारोप-अपवाद की विधि से (एनम्) उसे (उपदिशति) उपदेश करते हैं। (सः) वह (विद्वान्) वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु (उपसन्नाय) शरणमें आये हुये; (सम्यक् प्रशान्त चित्ताय) पूर्णतया शान्तचित्तवाले; (शमान्विताय) शम दम आदि साधनयुक्त (तस्मै) उस शिष्य हो; (ताम् ब्रह्मविद्याम्) उस ब्रह्मविद्याका; (तत्त्वतः) तत्त्व विवेचन पूर्वक (प्रोवाच) भलिभांति उपदेश करे (येन) जिससे वह शिष्य (अक्षरम्) अविनाशी (सत्यम्) नित्य (पुरुषम्) परम पुरुषको (वेद) जान ले।

यदि इस प्रकार अधिकार प्राप्त किया हुआ प्रमाता गुरु के पास जाता है तो गुरु कोई मिथ्याहेतु (excuse) नहीं दे सकता है । वह गुरु को भी पढ़ाना पडेगा । अतः यहां तक यह बताया है कि गुरु और शिष्य अब पठन-पाठन आरम्भ करेंगे । प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । पढ़ाने कि विधि भी यहां बताई है – अध्यारोप अपवाद न्याय के द्वारा । अब यहां से पाठ्यक्रम आरम्भ होगा । पहले बतायेंगे कि विधि क्या है और फिर विद्या आरम्भ होगी ।

जिस प्रकार देवी का वाहन सिंह है, शिव का वाहन वृषभ है और विष्णु का वाहन गरुण है उसी प्रकार गुरु का वाहन कृपा है । उन गुरु को परमकृपा करके शिष्य को ज्ञान देना चाहिये । कैसे ज्ञान देना चाहिये – अध्यारोप अपवाद द्वारा । 'अध्यारोप आपवाद' वेदान्त पड़ने कि प्रक्रिया है । 'अध्यारोप अपवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते' – अध्यारोप (deliberate superimposition) और अपवाद (its negation), निष्प्रपञ्चं – यह जो प्रपञ्च, नहीं होने के बाद भी उत्पन्न हो गया है, उसके ऊपर अध्यारोप करो और फिर अपवाद करो और जो शेष में बच जाता है वह है ब्रह्मन् । इस विधि से ही ज्ञान होता है । उस गुरु को ब्रह्मविद्या (एनम् २/१) का इस प्रकार उपदेश देना चाहिये । अध्यारोप अपवाद युक्ति (logic) से किया जायेगा उसके लिये 'न्याय' का उपयोग किया जायेगा ।

Adyaropa – erroneaously attributing the properties of one thing to another, such as considering one thing to another.

मुण्डक श्रुति –

३२ – असर्पभूतायां..

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुनि अवस्तुः आरोपः - अध्यारोपः

रज्जौ (रज्जु ७/१) असर्पभूतायां (असर्पभूता ७/१) वस्तुनि (७/१) सर्पारोपवत् (१/१) अवस्तुः (१/१) आरोपः (१/१) अध्यारोपः (१/१) अस्ति/उच्यते ।

आकांक्षा पद्धति – एक वाक्य कहा जाता है और वह वाक्य शिष्य के मन में स्वाभाविक प्रश्न को जन्म देता है । इस प्रश्न के वाक्य में एक और वाक्य बोला जायेगा जिसमें पुनः कोई नया शब्द प्रतिपादित किया जायेगा । जिससे एक और प्रश्न का जन्म होगा । इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती है । शिष्य के प्रश्न को आकांक्षा कहते हैं । पूर्व श्लोक में अध्यारोप अपवाद प्रतिपादित किया था । शिष्य के मन में यह प्रश्न आयेगा – अध्यारोप अपवादः कः ।

आरोप = superimposition caused by erroneous conception (भ्रम).

When we superimpose a picture on a greeting card then that greeting card and picture are both real, समान सत्ता, but here different superimposition is talked about.

(रज्जौ) रस्सी (पर) (असर्पभूतायाम्) जो कि सर्प नहीं है उस पर (सर्पारोपवत्) सर्प के आरोपण की तरह (वस्तुनि) वस्तु पर (अवस्तुः) अवस्तु का (आरोपः) आरोप (अध्यारोप) अध्यरोप कहलाता है ।

यहां रज्जु और सर्प के उदाहरण से अध्यारोप बोधित किया है । प्रमुख बिन्दु यह है कि एक पदार्थ पर उससे विपरीत पदार्थ का आरोपण किया जाता है और इसको की बल देने के लिये 'असर्पभूतायां' का प्रयोग किया है । वस्तु (जो की अवस्तु नहीं है) में अवस्तु का आरोप होता है । हमेशा सत् के ऊपर असत् का आरोप होता है । रस्सी की सत्यता रस्सी ही है । रस्सी जो की सत्य वस्तु है उसके ऊपर सर्प जो की है हि नहीं उसका आरोप करते है । इस प्रकार असत् को हम सत् मान लेते हैं और तो सत् तो हमारी बुद्धि में हि नहीं आता । असत् को हि सत मान कर बैठे हैं और यह ही है अज्ञान । अध्यारोप हमेशा उस का ही होगा जो पहले अनुभव किया जा चुका है । यदि किसी नें पहले कभी सर्प को नहीं देखा है तो वह कभी भी सर्प का आरोप नहीं करेगा ।

रस्सी और सर्प क्या है यह तो मालूम पर यह तो सिर्फ समझाने के लिये कहा गया है पर वास्तव में तो अध्यारोप असत् वस्तु का सत् वस्तु के ऊपर होता है । तो यह जानना चाहिये कि सत/वस्तु और असत/अवस्तु आखिर क्या है । यहां पर सदसत् कि जगह वस्तु और अवस्तु का प्रयोग इसलिये कर रहे हैं क्योंकि श्लोक १६ में नित्य को 'वस्तु' कहकर संबोधित किया था ।

अध्यारोप, 'अध्यास' का पर्यायवाची है । the apparent recoginition of something previously observed in some other thing. Superpositioning of unreal on real.

जैसे कोई मैल को निकालने के लिये साबुन का प्रयोग करते हैं – पहले साबुन लगाते हैं और फिर साबुन के साथ मैल भी धुल जाता है । साबुन लगाना ही अध्यारोप है और बाद में साबुन के साथ मैल भी निकल जायेगा यह अपवाद है ।

इससे आकांक्षा होती है कि – वस्तु क्या है और अवस्तु क्या है । उसका निरुपण आगे किया है । किं तद्वस्तु । किं तदवस्तु ।

३३ - वस्तु सच्चिदानन्द

वस्तु = सत् वस्तु = सत् चित् आनन्दम् ब्रह्म । सत् – त्रिकालमपि यत्तिष्ठति । जो तीनों काल मे उपलब्ध है । जो हमेशा था और है और वह ही हमेशा रहेगा ।

वेदान्त में 'वस्तु' का अर्थ केवल 'ब्रह्मन्' होता है । वसति अस्ति वा इति वस्तु । और केवल ब्रह्मन् ही 'है' ।

हम समझते हैं कि घड़ी **है**, कुर्सी **है** इसलिये यह सब वस्तु है । परन्तु वेदान्त में प्रपञ्च आदि भूतादि कुछ भी नहीं है । इसलिये वेदान्त में केवल ब्रह्मन् ही वस्तु है । और इसलिये ब्रह्मन् से अन्य सब कुछ अवस्तु है । न तो घड़ी है न हि कुर्सी है । ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः .... । यदि हम समझते हैं कि घड़ी है तो वेदान्त की दृष्टी से हम 'भ्रान्त' हैं । यह सब मिथ्या है ।

चित् = ज्ञान स्वरूपः – awareness – we are aware of things that is why we have चेतना (awareness, consciousness), सत् ही चित् है क्योंकि जो है वह अपने आप को जानेंगें नही तो वह जड होगा और अवस्तु हो जायेगा । जो सत् अपनी अनुभूति करता है वह चैतन्य से अनुभूति अनन्त काल तक है इसलिये उसे 'अनन्त' बोलते हैं । यह अनुभूति अनन्त काल तक है इसलिये ही वह अनन्त ही आनन्द है । स्वरूप लक्षण – यह चार ही है – सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द । यह चार ही स्वरूप लक्षण हैं । ज्ञानी को कभी भी यह भय नहीं रहता कि यह आनन्द चला जायेगा । हम जब आनन्द का भोग करते हैं तो भय आ जाता है कि यह आनन्द चला जयेगा ।

अद्वयं = कोई दूसरा नहीं है ।

ब्रह्म की परिभाषा है – ' सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' और आत्मा की परिभाषा है – 'सत् चित् आनन्द आत्मा' । परन्तु यह दोनों तो एक ही हैं । अयमात्मा ब्रह्म । इसलिये जब हम इन दोनों परिभाषाओं को साथ मे रखते है तो ६ बातें आती हैं – सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् सत् चित् आनन्दम्' । सत् और सत्य पर्यायवाची हैं और चित् और ज्ञानम् पर्यायवाची हैं । आनन्द और अनन्त अलग अलग हैं । इसलिये ४ बचते हैं अतः हम कह सकते हैं 'सत् चित् आनन्दम् अनन्तम्' अथवा 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् आनन्दम्' ब्रह्म । यहां पर अनन्तम् के स्थान पर अद्वयम् प्रयोग किया है क्योंकि यह पर्यायवाची हैं ।

अवस्तु = अज्ञान आदि सकल जड समूह । सब कुछ अज्ञान आदि इन चार 'सच्चिदानन्द ज्ञान अनन्त अद्वय' सब कुछ जड है । समस्त भौतिक जगत् अवस्तु है । सृष्टि में दो वस्तु (साधारण प्रयोग में) हैं – कार्य रूपम् और कारण रूपम् । कारण रुपम् है प्रकृति और कार्य रूपम् है प्रपञ्च जगत् । यह दोनों जड हैं । अन्तर केवल यह है कि प्रकृति अवक्त है और प्रपञ्च व्यक्त है । प्रकृति के स्थान पर अज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है । प्रकृति = मूल अज्ञान ।

साधारणतया अज्ञान का प्रयोग होता कि व्यक्तिगत रूप से किसी का ज्ञान न होना । परन्तु यहां व्यक्तिगत अज्ञान की बात नहीं की है अपितु यहां अनादि अज्ञान की बात की है जो कि व्यक्ति और जगत् के पहले भी विद्यमान थी । यह व्यक्तिगत मन का कारण है इसलिये इसे 'मूल अज्ञान' भी कहते हैं जो कि प्रकृति है ।

यहां हम 'प्रकृति' शब्द का जानबूझ कर परिहार करते हैं और उसके स्थान पर 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं । संख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति, वेदान्त के ब्रह्म और जगत्/अज्ञान हैं । परन्तु सांख्य में पुरुष और प्रकृति दोनों सत्य हैं और ज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रकृति का नाश नहीं होता, पुरुष और प्रकृति दोनों कि सत्ता रहती है । इससे भ्रान्ति हो सकती है । अतः जानबूझकर 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि इससे यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जायेगा । गीता में 'प्रकृति' शब्द का अधिकतर प्रयोग हुआ है । वेदान्त में प्रकृति, अज्ञान होती है और यह नाशवान है और ज्ञान के बाद पुरुषः ब्रह्मैव वर्तते । अतः प्रकृति को 'मूल अज्ञान' अथवा 'कारण' कहते हैं और सृष्टि कार्य है । यहां पर 'अज्ञानादि' से अर्थ है कि कारण और कार्य दोनों । अज्ञान और उससे उत्पन्न प्रपञ्च दोनों अवस्तु हैं । दोनों कारण और कार्य अवस्तु हैं ।

जड मतलब अपने आस्तित्व को अनुभव नहीं कर सकती (अचेतन) । जैसे घड़ी अपना अनुभव नहीं कर सकती की मैं घड़ी हूं इसलिये वह जड है । जड समूह जीव ब्रह्म ऐक्यं को अनुभव नहीं कर सकती । इसलिये इसको अज्ञान बोलते हैं । माया अविद्या अज्ञान प्रपञ्च यह सब पर्यायवाची हैं ।

तीन वस्तु होती हैं – सत् असत् और अवस्तु/अविद्या/माया/प्रपञ्च/अज्ञान ।

सत् वस्तु जो तीनों काल में होती है । असत् वस्तु जो की कभी भी नहीं होती जैसे अपने सर पर सींग । मतलब कुछ था नहीं पूर्व में, अभी भी नहीं है और भविष्य में भी नही होगा । कभी भी किसी भी काल में इसका आस्तित्व नहीं था ।

जो प्रपञ्च है जैसे घड़ी । यह भूतकाल में नहीं थी और भविष्य में भी नहीं होगी पर अभी वर्तमान में तो यह है । हमें इसकी अनुभूति होती है । यह सत् नहीं है क्योंकि यह तीनों काल में नही है । परन्तु यह असत् भी नहीं है क्योंकि असत् वस्तु तो तीनों काल मे नही होती है पर यह तो तीन में से एक काल में है । इसलिये यह असत् भी नहीं है ।

सृष्टि से पहले केवल यह दो थे –

- वस्तु = ब्रह्म = सत्य ।
- अवस्तु = प्रकृति = मिथ्या ।

यहां पर दूसरी आकांक्षा है कि – अज्ञानं किम्?

माया – विवेक चूडामणि

तत्त्वबोध

कारणशरीरं किम्? अनिर्वाच्य अनादि अविद्यारूपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्वरूपाज्ञानं । निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत्कारणशरीरम् ॥

कारण – जो वस्तु है वो किससे उत्पन्न हुई है । उसका आधार क्या है । उसका आदि क्या है । यहां कारण का अर्थ 'वजह' नहीं है । यहां कारण का अर्थ है 'आधार' । जैसे घट का कारण मिट्टी है या तरङ्ग का कारण जल है । जैसे आभूषण का कारण स्वर्ण है । यह कार्य-कारण वाला कारण है । कार्य = परिणाम् है ।

अविद्या ही कारण शरीर है । क्या हमको यह अनुभव में आ रहा है कि हम शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं । अगर नहीं तो यह ही अविद्या है । हमें यह अनुभव नही आ रहा है कि हम अनन्त हैं अनादि है चेतना है नित्य हैं । यह हमें अनुभव नहीं आ रहा है इसी का नाम अविद्या है ।

अनिर्वाच्य – यह किस प्रकार कि है यह कहना कठिन है । तीन कारण से यह अनिर्वाच्य है –

- यह सत् नहीं है और असत् भी नही है । सत् इसलिये नहीं है क्योंकि यह अविद्या अन्तवान है । ज्ञान से इसका नाश हो जाता है और सत् वह वस्तु है जिसका कभी नाश नहीं होता 'त्रिकालयपि तिष्ठति' । यह असत् भी नहीं है । हमारी सारी समस्याएँ असत् के कारण ही है । यह हमको दुःख देती है । हम इससे निवृत्त होने का भी प्रयास कर रहे हैं । इसलिये यह असत् भी नहीं है । यह सदसत् भी नहीं है क्योंकि कोई भी वस्तु दोनों नही हो सकती । कोई यह कह सकता है कि यह पहले असत् थी बीच में सत् हो गई फिर आगे असत् हो जायेगी परन्तु यह संभव नहीं है । कोई वस्तु या तो सत् होगी या असत् होगी परन्तु वह दोनों नही हो सकती । जैसे एक व्यक्ति एक समय में पुत्र और पिता दोनों हो सकता है । परन्तु कोई भी वस्तु एक समय में दोनों नही हो सकती । इसलिये यह भी कहना ठीक नहीं है कि 'यह सत् और असत् दोनों है' यतः जो सत् है वह हमेशा सत् ही रहता है और कभी भी असत् नही हो सकता और जो असत् है वह सर्वदा असत् ही रहता है और कभी भी सत् नहीं हो सकता । अतः यह विशेष प्रकार की है । यह अनिर्वचनीय है ।
- यह आत्मा से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है और आत्मा से भिन्नाभिन्न दोनों भी नहीं है । यह अविद्या आत्मा से एकाकार है । आत्मा अलग और अविद्या अलग यह दो वस्तुयें हैं क्या । नहीं इस प्रकार भी नहीं क्योंकि अविद्या तो जड और अस्तित्वहीन वस्तु है और आत्मा तो सत् वस्तु है और अविद्या इस प्रकार सत् नहीं है । तो फिर इसलिये आत्मा और अविद्या यह तो वस्तुयें अलग अलग नहीं हो सकती । तो क्या ये दोनों एक हो सकती है । क्या अविद्या आत्मा में भी होगी? आत्मा में अविद्या हो नहीं सकती क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है । आत्मा विद्या स्वरूप है । इसलिये ज्ञान स्वरूप में अज्ञान हो नहीं सकता । लेकिन ना होते हुये भी उसमें होती हुई भासित हो रही है ।
- स अङ्ग (अविद्या के कई अङ्ग हैं , सावयव) अविद्या के कोई अवयव नहीं है । तो फिर यह नाना रूप जगत् कैसे दिखाई देता है । ऐसा भी नहीं संभव है कि किसी के अङ्ग भी हों और उसके कोई अङ्ग ना भी हो । इसलिये यह अनिर्वचनीय है ।
- अनादि है – हम अगर ज्ञानस्वरूप हैं तो अविद्या कब और कहां से आई यह प्रश्न उठता है । पर यह अविद्या अनादि है । आने क प्रश्न तो तब उठता है जब उसका कोई आदि हो । ईस अविद्या का अनादित्व वैसा नहीं है जैसा परमात्मा का है । परमात्मा तो अपनी सत्ता से विद्यमान है और सत् स्वरूप है और सदा से विद्यमान है । इसलिये परमात्मा अनादि है । अविद्या का अनादित्व दूसरे प्रकार का है । हम लोकिक जगत् में भी देखें तो सब अज्ञान अनादि होते हैं । जैसे रशियन भाषा का अज्ञान अनादि है । यह अज्ञान कब आया यह नहीं कह सकते । कोई ऐसा समय नहीं है कि जिसके पहले हमको रशियन आती थी और फिर यह ज्ञान लुप्त हो गया । इसी प्रकार जब रज्जु में सर्प दिखाई देता है तब हम यह नही बता सकते कि यह सर्प बुद्धि कब से आ गई । सिर्फ यही कह सकते हैं कि जब देखा तब सर्प ही दिखाई दिया । यह भ्रम कबसे आया यह पता नहीं ।
  ईसी प्रकार यह जो हमारे स्वरूप का अज्ञान है यह भी अनादि है ।

- यह अविद्या सूक्ष्म और स्थूल शरीर का कारण (आधार) होने के कारण कारण शरीर कहलाती है । अब तक यह अविद्या रहेगी तब तक स्थूल शरीर प्राप्त होते रहेंगे और पुनर्जन्म होता रहेगा । जब ज्ञान उत्पन्न हो गया और यह अविद्या नष्ट हो गई तो कारण शरीर नष्ट हो गया और मन शरीर आदि धारण करने का जो कारण था वह नष्ट हो गया ।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः अनादि अविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥

अव्यक्त नाम्नी । पुरुष सूक्त में आता है कि जो यह व्यक्त प्रपञ्च है वह एक पाद है और यह जहां से आता है वह अव्यक्त प्रपञ्च है ।

कार्यानुमेया सुधिया एव माया (कर्मणि प्रयोग, सुधिया (सुधी, ३/१) एव माया कार्यानुमेया) । बुद्धिमान लोगों के द्वारा यह माया कार्य (माया के कार्य) से अनुमेय है । माया के कार्य से अनुमान लगाकर इसको जान लेते हैं ।

यया (यत् स्त्री० ३/१) जगत् (जगत् नपु० १/१) सर्वम् (सर्व नपु० १/१) इदम् (इदम् नपु० १/१) प्रसूयते (प्र + सू) ।
जिसके द्वारा यह सारा जगत् उत्पन्न/पैदा किया हुआ/जनित/जन्मित/उत्पादित है ।

Matter can never be produced or destroyed. When matter is destroyed it only converts to subtler or unmanifest form. From unmanifest (अव्यक्त) form it can again come to manifest (व्यक्त). Just as matter and energy are interconvertible. अतः सूक्ष्म और स्थूल शरीर कभी रचे नहीं जाते हैं यह या तो अव्यक्त रूप में रहते हैं और उसके बाद व्यक्त होते है (यह सृष्टी है) । पुनः प्रलयकाल में यह व्यक्त से अव्यक्त हो जाते हैं । जैसा कि गीता में भी कहा है –

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।8.18।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।8.19।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।8.20।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अव्यक्त को कारण कहते हैं और व्यक्त को कार्य कहते हैं । अतः कारण शरीर कारणं हैं और स्थूलसूक्ष्मशरीर कार्य हैं । प्रलय के काल में सारे सूक्ष्मस्थूलशरीर बीज (कारण) रूप में अव्यक्त रहते हैं । यह समष्टी और व्यष्टि दोनों के लिये हैं । अतः स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्च कार्य है और कारणप्रपञ्च कारण है ।

व्यष्टि में **कारणशरीर** कहते हैं और समष्टि में **कारणप्रपञ्च** कहते हैं । यह समष्टि और व्यष्टि का भेद केवल स्थूल समय पर ही दिखता है । बीज में (सुषुप्ति या प्रलय काल में) कोई भेद नहीं होता है (यह भेद अस्पष्ट होता है) । उदाहरण रूप में जब हम सुषुप्ति अवस्था में होते हैं जो हमें कोई भेद (न तो एक व्यष्टि का दूसरी व्यष्टि से और न हि व्यष्टि का समष्टि से) अनुभव नहीं होता है इसलिये इसे **निर्विकल्पक अवस्था** भी कहते हैं । हमारी भी जाग्रत और स्वपनावस्था के समय भेद का अनुभव करते हैं परन्तु सुषुप्ति के समय कोई भेद नहीं होता ।

इसी कारण से कुछ शास्त्रों में कारणशरीर (व्यष्टि, अविद्या) और कारणप्रपञ्च (समष्टि, माया) का भेद करते हैं और कहीं पर नही करते हैं । यहां पर यह भेद नहीं किया है । यदि भेद की बात करते हैं भी है तो केवल समझाने के लिये होते है ।

कारणशरीर को एक नाम 'अविद्या' भी । कारणप्रपञ्च का एक नाम 'माया' भी है । यहां पर भी कोई भेद न करते हुये दोनों का प्रयोग हुआ है । अतः अविद्या ही माया है । अविद्या 'विद् सत्ता' धातु से बना है जिससे 'विद्यते' बनता है । अतः विद्या का अर्थ है जिसका आस्तित्व नहीं है – न विद्यते ।

प्रस्तुत श्लोक में कई पर्यायवाची बताये हैं – माया, अव्यक्तं, परमेशशक्तिः, अनादि-अविद्या

यहां माया को अव्यक्तनाम्नी (अव्यक्त नाम वाली) बताया गया है क्योंकि बीज रूप में है । सब कुछ अव्यक्त रूप में है । अव्यक्त का अर्थ है इन्द्रिय अगोचरम् । Even scientist when they get inside they see molecules, then atoms then sub-atomic particles and as they get inside things get hazier and hazier and they are saying we will not be able to define. So uncertainity principle is coming into picture because it is not an object of perception.

When matter is reduced to energy it is called power (शक्तिः) । कोई भी शक्ति का कोई आधार होता है जैसे वाक्शक्ति वक्ता में आधारित है यह शक्ति किसी अधिकरण से अन्यथा नहीं हो सकती । शक्ति किसी शक्तिमान में होती है । शक्ति की स्वतन्त्रः सत्ता नास्ति । अतः यह शक्ति भी निरुपाधिक ब्रह्म में आधारित है । ब्रह्मणः शक्तिः परमेशशक्तिः । यहां पर जगत् की परतन्त्रता को लक्षित किया है । जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है वह चित् सत्ता पर आधारित है ।

अनादि – माया, कारणशरीर, अव्यक्तम्, शक्ति की कोई आदि नहीं है । जब सृष्टि की बात करते हैं तो वेदान्त के अनुसार सृष्टि की रचना नहीं होती है केवल सृष्टि व्यक्त होती है अव्यक्त से । There is no creation there is only manifestation. Matter cannot be created nor it can be destroyed it can only be converted from one form to another. सृजन कभी नहीं होता है । जैसे कहते हैं कि घर नया बना है परन्तु समझने वाली बात है कि कुछ भी नया नहीं बना है – लकड़ी लोहा ईंट पत्थर आदि सब तो पहले से थे । केवल इस रूप में व्यक्त नहीं थे वह घर इन सारे पदार्थों में अव्यक्त रूप से था । अब केवल एक नाम रूप दे दिया है । अतः अनादि ।

अविद्या का अर्थ यहां पर अज्ञान या विद्या का अभाव नहीं है क्योंकि अज्ञान तो मन की एक अवस्था का नाम है और अभी तो अव्यक्त की बात हो रही है अतः सूक्ष्मशरीर (सूक्ष्मप्रपञ्च) तो अभी प्रकट ही नहीं हुआ है अतः अन्तःकरण है ही नहीं । यह अविद्या तो उस सूक्ष्म शरीर का भी कारण है अतः यहां पर यह मन की अवस्था नहीं है ।

अविद्या एक परिभाषा शब्द है जिसका अर्थ है – "वह जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है" । यह 'विद्' धातु से आया है जो सत्ता के लिये (गण ४) में प्रयोग होता है – इससे 'विद्यते' क्रिया बनती है । अतः अविद्या का अर्थ है – न विद्यते । यहां सन्दर्भ के अनुसार – जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । जैसे घट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है केवल मृत्तिका ही सत्य है । वस्तुतः/स्वतः न विद्यते इति अविद्या । दूसरा अर्थ होता है कि जो विद्या के द्वारा नाशवान् है ।

यहां पर अलग अलग पर्यायवाची बताये गये हैं । माया का पर्यायवाची सुषुप्ति भी है ।

कार्यानुमेवा – इसकी कभी अनुभूति नहीं की जा सकती (never perceptible) केवल अनुमानित (inference) किया जा सकता है क्योकि यह तो अव्यक्त (इन्द्रिय अगोचर) है । यह तो प्रलय या सुषुप्ति अवस्था है । सूक्ष्मस्थूललय स्थान है । इस समय तो सूक्ष्म शरीर होता ही नहीं है तो मन आदि से अनुभूति कर सकें या ज्ञानेन्द्रिय से प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकें । अतः हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं जो कि शास्त्र के द्वारा शब्द प्रमाण प्रमाणित होता है ।

हम प्रत्यक्ष भी देखें तो युक्ति से –

- हम किसी भी वस्तु को नष्ट नहीं कर सकते केवल उसका रूप परिवर्तित हो जाता है जैसे लकड़ी जल कोयला भई । मेज जलकर राख हो जाती है । परमाणु प्रयोग में पदार्थ को यदि नष्ट भी करते हैं तो वह शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है ।
- Nothing comes from nothing. जो भी संसार में है उसका कारण होता है । जैसे एक कलम है तो उसका कोई उपादान कारण होगा । भोजन बनाने के लिये कितनी सारी सामग्री की आवश्यकता होती है ।

इसी प्रकार यदि यह कार्य रूपी प्रपञ्च यदि विद्यमान है तो इसका कोई कारण भी होगा । कारण हमेशा कार्यानुमेय होता है । हमें अनुमान करना पड़ता है क्योंकि अव्यक्त की अनुभूति नहीं कर सकते । माया कभी प्रत्यक्ष नहीं है । शक्ति कभी प्रत्यक्ष नहीं होती उसके कार्य से हम शक्ति का अनुमान लगाते हैं । यह अनुमान केवल बुद्धिमान सुधी जन के द्वारा ही किया जा सकता है । सुधिया का अर्थ है बुद्धिमान के द्वारा (३/१) । 'एव' 'अनुमेया' के साथ है इसका अर्थ है कि केवल अनुमान किया जा सकता है । सुधिया कार्य अनुमेया एव । सुधिया = सुष्ठु शोभना श्रुत्यनुसारिणी धीः यस्य सः ।

यया – इस कारण अवस्था से ही यह सारा जगत व्यक्त होता है । कारणप्रपञ्च से जगत का और स्थूलसूक्ष्म शरीर प्रकट होते हैं ।

माया त्रिगुणात्मिका है । कारणस्य गुणाः कार्ये अनुवर्तन्ते । कार्य के गुण से कारण के गुणों का अनुमान लगाया जा सकता है । जो यह जगत् है यह त्रिगुणात्मक है अतः इसका कारण माया भी तीनों गुणों से युक्त होगा । क्रियाशक्ति रजोगुण के कारण होती है, ज्ञानशक्ति सत्वगुण के कारण होती है, द्रव्यशक्ति तमोगुण के कारण होती है । सबसे ज्यादा ज्ञानशक्ति मनुष्य में होती है । यह ज्ञानशक्ति क्रमशः जानवरों में काफी कम हो जाती है । पेड़ पौधों में लगभग न्यून हो जाती है और वस्तुओं (द्रव्यों) में बिल्कुल नहीं होती है । वह वस्तुएं जड होती हैं । जब तीनों गुण समता में होते हैं तब प्रलय काल होता है । जब इनकी समता नहीं होती ही तभी सृष्टी होती है । गुणानां साम्यावस्था प्रलयं । गुणानां वैशम्यावस्था सृष्टिः । कार्यानुमेया = रूपादि अभावेन प्रत्यक्षादिगोचरत्वाभावेपि शब्दादिभिः गगनादिकमिव कार्यलिङ्गेनानुमेया ।

परा माने उत्कृष्ट (परः परा परम् (पु, स्त्री, नपु)) । आत्मा से उत्कृष्ट नहीं हो सकती क्योंकि यह ब्रह्माश्रिता है । यहां पर इसका अर्थ है कि अपने कार्य इस जगत से परा (उत्कृष्ट) है । आत्मा तो परात्परा परमेश्वर है । यह दोनों जगत और जीवों के सापेक्ष हैं । जीव और जगत से माया परा है और ब्रह्म परात्परा है । त्रिगुणात्मिका परा = हिरण्यगर्भादि स्वकार्येभ्यः उत्कृष्टा तत्कारणत्वात् ।

माया को अगले श्लोक में शंकराचार्य नें परिभाषित किया है -

सन्नाप्यसन्नप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो । सङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयारूपा ॥

माया = logically (बुद्धि के द्वारा) inexplicable (अकथनीय, जिसको समझाया नहीं जा सकता)/uncategorizable (जिसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता). There fore always incomprehensible (समझ से परे) for intellect. Intellect can comprehend something by logical (तार्किक) division. It has to clearly divide something to various natures and then comprehends it. Categorize different features (विशेषता) and then analysis (विश्लेषण) happens to understand something. Maya is not available for that logical categorization. But is very clearly experiencable in form of this creation. Therefore its definition is – what is experienced but cannot be explained is called maya. Nearest example is magic show. Not able to explain how it happens. Greatest magician is Lord. मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥२॥

सत् न(लोके तावत् अबाधितस्य सत्वं बाध्यमानस्य असत्यत्वं प्रसिद्धं यथा ऋतस्यानृतस्य च । कदापि कस्यापि अप्रतीयमानस्य असत्वं शशविषाणगगनकुसुमादेः । इयं तु माया " भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः " "तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते, योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः " " मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते " इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ज्ञानबाध्यत्वेन अवगम्यते । अतः तस्याः आत्मवत् सत्वं दुर्वचम् । " नाभावो विद्यते सतः " इति गीतायाश्च अस्याः ज्ञानानन्तरं अभावावश्यंभावात् न सत्वं) असत् न (ज्ञानात् प्राक् कार्यरूपेण प्रतीयमानत्वेन तत्परिणामित्वेन अनुमितिविषयत्वेन च न शशविषाणवत् असत्वं सुवचम्) उभयात्मिका नो (सत्वासत्वयोः व्याप्यवृत्तित्वेन कालभेदेन एकत्र स्वीकर्तुम् अनुचितत्वेन नोभयात्मकत्वं तस्याः । एकैकरूपत्वाभावे उभयात्मकत्वस्य अत्यन्तासंभवाच्च । यथा स्वाप्निकपदार्थानां एन्द्रजालिकपदार्थानां च दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् मिथ्यात्वं सदसद्विलक्षणत्वरूपं सदसद्विलक्षणत्वरूपं तथा अस्या अपीति भावः । उक्तं हि " नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोन्तः त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः " इति गीतायाम् । यद्यपि लौकिकाः पूर्वमुत्पत्तेः अत्यन्तम् असतः घटादेः भावम्, उत्पत्यनन्तरं सत्वेन अभ्युपगतस्य तस्य नाशे अभावं च अङ्गीकुर्वन्ति तदसंगतमिति सर्वज्ञेन भगवतैवोक्तम् अनयोरुभयोः अन्तः निर्णयः तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः इति कथयता । इत्थं च इयं माया सत् सद्वस्त्वपि न, असद्वस्त्वपि न उभयात्मिका सदसदात्मिका अपि नो । अपितु सत्वासत्वाभ्याम् निर्वक्तुमशक्यत्वात् अनिर्वचनीयरूपा । भिन्ना अपि अभिन्ना अपि - यथा सत्वेन वा असत्वेन वा निर्वक्तुम् अशक्या एवं ब्रह्मणो भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन च अनिर्वचनीयेत्याह । ब्रह्मणोत्यंतभिन्नत्वे अद्वैतबोधकश्रुतिविरोधात् लोकेपि शक्तेः शक्तिमतोः अत्यंतभेदाभावाच्च । एवम् अभिन्नत्वे तस्याः बाधायोगात् ब्रह्मणः कालत्रयाबाध्यत्वात् । भिन्नाभिन्नत्वविरुद्धे अतः भिन्नापि न अभिन्नापि नो उभयात्मिकापि नो भवतीत्यर्थः । एवं अनादित्वेन सांगा सावयवा न भवति सावयवत्वे जन्यत्वापत्तेः । निरवयवत्वे परिणामासंभवात् तदपि वक्तुमशक्यम् । अतः अनंगा अनवयवापि न । उभयात्मिका अपि नो सावयवत्व-निरवयवत्वयोः एकत्र विरोधादेव । अतः सत्वासत्वाभ्यां भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां सांगत्वानंगत्वाभ्यां निर्वक्तुम् अशक्यं रूपं यस्याः सा अनिर्वचनीयरूपा महाद्भुता अत्यन्ताश्चर्यरूपा ।

In this shloka it is explained why it is not logically categorizable. This shlok is definition of maya.

क्या माया सत् है? नहीं क्योंकि सत् तो वह होता है जिसकी सत्ता तीनों कालों में होती है । पर ज्ञान के द्वारा माया का नाश हो जाता है । अतः यह सत् नहीं है ।

क्या यह असत् है? नहीं क्योंकि असत् तो वह होता है जो कभी भी है ही नहीं । परन्तु माया तो है और यह इस सारे संसार और जगत और दुःख सुख का कारण है अतः यह नहीं कह सकते कि माया असत् है । ब्रह्म तो इस जगत का कारण है नहीं क्योंकि ब्रह्म तो कार्य कारण अतीत है । वह न तो कारण है न तो कार्य है । असत् से तो सृष्टि हो नहीं सकती ।

क्या उसको सदसत् कह सकते हैं? नहीं क्योंकि अंधकार और प्रकाश साथ में नहीं हो सकते क्योंकि यह दोनों परस्पर विरोधी है । जैसे एक ही व्यक्ति मोटा और पतला दोनों नहीं हो सकता, लम्बा और नाटा दोनों नहीं हो सकता ।

माया को परिभाषित और वर्गीकृत नहीं कर सकते अतः सबसे निकटवर्ती परिभाषा है – सदसत् विलक्षणा माया । सदसत् का मिश्रण नहीं है और न तो सत है न ही असत है ।

सत् न अपि असत् न अपि उभयात्मिका न उ ।

Other classification we want is to find out whether they are identical or differnent. Like water and जल are identical and water and glass are different so we want to find out whether brahma and maya are identical or different.

माया को न भिन्न कहा जा सकता है न ही अभिन्न (अर्थात् ब्रह्म से भिन्न) कहा जा सकता । न ही भिन्न और अभिन्न दोनों ही कहा जा सकता क्योंकि यह परस्पर विरोधी हैं ।

माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है । वेदान्त में प्रमाणित करते हैं कि माया मिथ्या है । यदि माया ब्रह्म के समान है तो वह भी चेतन हो जायेगी परन्तु वह जड जगत की कारण भी है अतः विरोध आ जायेगा । माया जगत का उपादान कारण है अतः जड है । दूसरा तरीका यह है कि ब्रह्म भी जड है परन्तु श्रुति स्मृति प्रमाण कहते हैं कि ब्रह्म चेतन सत्ता है अतः यह भी नहीं हो सकता ।

माया ब्रह्म से भिन्न है । यह सांख्य कहते हैं । प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं दोनों भिन्न हैं और दोनो की सत्ता है । माया ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकती क्योंकि यदि यह दो तत्त्व हैं तो एक तत्त्व दूसरे को अवच्छिन्न कर देगा और ब्रह्म अनन्त नहीं हो पायेगा क्योंकि फिर वह देशकालवस्तुपरिच्छिन्न हो जायेगा । गीता के अनुसार नित्यः सर्वगतः है । यदि ब्रह्म माया से भिन्न है तो वह सर्वगत और अनन्त नहीं हो पायेगा । ब्रह्म को सजातीय विजातीय और स्वगत तीनों भेदों से रहित कहा जाता है । सजातीय भेद वह होते हैं जो एक ही जाति विशेष में भेद होते हैं जैसे एक पुरुष का दूसरे पुरुष से भेद । विजातीय भेद वह होते हैं जो अलग अलग जातियों में होते हैं जैसे पुरुष का स्त्री से भेद या पुरुष का पशु से भेद या पुरुष का वस्तु से भेद । स्वगत भेद उसको कहते हैं आन्तरिक होता है जैसे पुरुष और उसका हाथ । पूर्ण का उसके अवयव से भेद । ब्रह्म इन तीनों भेद से रहित है । श्रुति में अद्वैत शब्द प्रयोग होता है ब्रह्म के लिये वह इसी का सूचक है – छान्दोक्य "एकमेव अद्वितीयम्" या फिर माण्डूक्य "शान्तं शिवमद्वैतम्" अतः माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

यह भी नहीं कह सकते हैं कि भिन्न और अभिन्न दोनों है परन्तु यह भी संभव नहीं है क्योंकि यह दोनों परस्पर विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं हो सकते ।

उदाहरणस्वरूप जैसे कि क्या जल की तरंग जल से भिन्न है या अभिन्न है । यदि यह कहते हैं कि दोनों भिन्न नहीं है तो जहां भी जल का प्रयोग करते हैं वहां तरंग कह सकते हैं जैसे की प्यास लगी है एक तरंग ले आओ । यदि यह कहते हैं भी तरंग और जल भिन्न है तो तरंग की जल से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं है जैसे यह नहीं हो सकता की तरंग ले आओ परन्तु जल मत लाना या घट ले आओ परन्तु मृत्तिका मत लाना या फिर आभूषण तुम रख लो और सुवर्ण हमें दे दो । अतः न तो भिन्न है न ही अभिन्न है । अतः यह भेदाभेद विलक्षण है ।

एक और विभाग हो सकता है कि उसके अङ्ग हैं या नहीं हैं । अङ्ग या अवयव का अर्थ होते हैं हिस्से । साङ्ग या सावयव या सकलम् (सारी कला के साथ) । कोई अङ्ग न होने का उदाहरण है आकाश । आकाश के कोई अवयव नहीं होते । ब्रह्म के भी अवयव नहीं होते और यह दर्शाने के लिये 'निष्कलम्' शब्द का प्रयोग करते हैं । या फिर अनङ्ग या निरवयव भी कह सकते हैं ।

माया न तो साङ्ग है न ही अनङ्ग है न ही मिश्रित है ।

यह सब ब्रह्मसूत्र में विस्तार से विश्लेषण किया गया है । सृष्टि के कारण के सारे दर्शनों का विवेचन होता है वहां पर ।

जिस किसी वस्तु के भाग हा हिस्से होते हैं उस वस्तु को कभी न कभी इकट्ठा (एकत्र, assemble) किया गया होगा । कुछ भी जो एकत्रित है वह कार्य है । और जो कुछ भी कार्य है उसका आदि है । Anything which has parts is an assembled thing. Any thing which is assembled is a product. Any thing which is a product has begginning. परन्तु माया को शास्त्र में अनादि कहा गया है । यदि यह कहते हैं कि माया का आदि है तो प्रश्न आयेगा कि माया का कारण क्या है और वह कारण का आदि है या वह अनादि है । यदि वह कारण भी आदिसहित है तो उसका कोई कारण होगा । यह चलता रहेगा । माया को शास्त्रों में अनादि कहा गया है ।

यह भी नहीं कह सकते कि वह अनङ्ग है क्योंकि फिर सृष्टि में नानात्व को समझा नहीं सकते । सृष्टि में सत्व रजस तमस गुण हैं यह तीन गुण को नहीं समझा सकते ।

मिश्रण भी नहीं हो सकता क्योंकि सांग और अनंग दोनों परस्पर विरोधी है । अतः माया इन तीनों से विलक्षण है ।

वास्तव में कोई भी विभाग यदि बुद्धि करती है तो माया का उस वर्ग में नहीं हो सकता ।

अतः माया को समझाना संभव नहीं है क्योंकि वह तर्क और प्रमाणों के परे है । वह अकथनीय है । वह अनिर्वचनीय रूपा है । अतः माया की परिभाषा है कि वह अनिर्वचनीय है ।

शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा । रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ॥

अस्मिन् श्लोके अविद्या की परिभाषा बताई है । अविद्या की दो परिभाषा हैं – वह जो कि स्वतः न विद्यते, वह जो कि विद्या से नाश्या है (विद्या विरोधिनी) । हर वह वस्तु जिसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है वह ज्ञान से नाश्य है । जैसे कि आभूषण अविद्या है क्योंकि आभूषण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । घट पट मेज आदि अविद्या हैं । स्वयं न विद्यते इति अविद्या । जब तक हम विचार नहीं करते हैं तब तक हम 'मेज' कहते रहते हैं । परन्तु जब हम मेज के बारे में विचार करते हैं तब ही समझ में आता है कि केवल लकड़ी ही सत्य है वास्तव में मेज नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । मेज केवल एक नाम रूप है । ज्ञान आने पर पता चला कि 'मेज' केवल एक शब्द है जो कि जिह्वा के द्वारा आरम्भ हुआ है । वाचारम्भं विकरो नामधेयं । यह ज्ञान होना की 'मेज' का निषेध/बाधित होना । जिस समय लकड़ी के ज्ञान को जान जाते हैं उस समय मेज दिखना बन्द हो जाती है यह बाधित या निषेध होना है । There is no is-ness in desk, taking the is-ness from desk and giving it to wood is called negation of desk. Desk loses its existence with knowledge. आभूषण का निषेध हो जाता है जब सुवर्ण का ज्ञान हो जाता है । अतः यह अविद्या हैं क्योंकि विद्या के द्वारा बाधित हो जाती हैं । अतः यह विद्या/ज्ञान की विरोधी है ज्ञान से इसका नाश हो जाता है । वेदान्त के कारण कोई भी कार्य अविद्या है क्योंकि कारण का ज्ञान होने पर वह नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार पूरा जगत अविद्या है क्योंकि यह कार्य है । मेज के संदर्भ में लकड़ी का ज्ञान विद्या है । घट के संदर्भ में मृत्तिका का ज्ञान विद्या है आभूषणों के संदर्भ में सुवर्ण का ज्ञान विद्या है और जगत के संदर्भ में ब्रह्म का ज्ञान विद्या है अतः माया ब्रह्मविद्या से नाश्या है । भूयश् चान्ते विश्व-माया-निवृत्तिः – श्वेत० उप० ।

कारणप्रपञ्च और कारणशरीर एक ही होते हैं उनमें अन्तर होता है परन्तु वह भेद अव्यक्त होने के कारण उसके बारे में बात नहीं कर सकते अतः समझ के परे होने के कारण यह कहते हैं कि माया में भेद नहीं है । हर व्यक्ति का कारण शरीर अलग होता है पर वह अनुभव में नहीं आता है जैसे अपनी सुषुप्ति अवस्था और किसी और की सुषुप्ति अवस्था और प्रलय काल में भेद होता है परन्तु वह भेद समझ के परे होता है । व्यक्ति की सुषुप्ति को लय कहते हैं समष्टि सुषुप्ति को प्रलय कहते हैं । लय काल में भेद का अनुभव नहीं होता अतः किसी किसी ग्रन्थ में भेद करते हैं (अविद्या और माया) और कहीं पर नहीं करते हैं ।

अतः अविद्या शुद्ध-अद्वय-ब्रह्म-विबोध (शुद्ध ज्ञान) के द्वारा नाश्या है । (यथा) वैसे ही जैसे रज्जु के विवेक से (रज्जु-विवेकतः) सर्प का भ्रम नाश हो जाता है ।

परन्तु ज्ञान के द्वारा वस्तुओं का नाश होगा तो हम ज्ञान करते रहे और वस्तुओं का नाश होता रहेगा । उसपर कहते हैं कि यह नाश वैसे ही होता है जैसे रज्जु के सर्प का । सर्प था नहीं पर जब तक ज्ञान नहीं हुआ तब तक भ्रान्त के लिये उसकी सत्ता थी । जिस प्रकार स्वप्न देख रहे मनुष्य के लिये, जब तक वह स्वप्न देख रहा है तब तक स्वप्न की सत्ता होती है केवल जागने के बाद ही उसकी सत्ता का नाश होता है । इसकी प्रकार जो अनात्मा में आत्म बुद्धि है और जो भासित सत्य है उसका नाश होता है । सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता से अध्यासित थी जिस प्रकार जगत की सत्ता ब्रह्म की सत्ता से उधार ली हुई है । केवल लो भ्रम सर्प है वह ही नाश होगा । यदि हाथ में रज्जु लेकर snake park में जाकर सर्प के पास खड़े होकर बोलेंगे की हमें रज्जु का ज्ञान है तो वह सर्प का नाश नहीं होगा । केवल भ्रम का नाश होता है ।

अब श्लोक के उत्तरार्ध में त्रिगुणात्मिका शब्द का अर्थ बतायेंगें ।

(तदीयाः) माया के (गुणाः) गुण परिभाषा शब्द है इसका अर्थ quality या property नहीं होता (प्रसिद्धाः) प्रसिद्ध हैं । यह हैं रजस् तमः सत्त्वम् इति । परन्तु माया को तो कोई जान नहीं सकता फिर उसके गुण कैसे पता चले? स्वकार्यैः प्रथितैः । कार्यानुमेया । ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति द्रव्यशक्ति (inertia). प्रथितम् = अच्छी तरह से ज्ञात, प्रसिद्ध । स्वकार्यैः – अपने कार्यों के द्वारा । माया के ये गुण, जो कि उसके कार्यों के द्वारा अच्छी तरह से ज्ञात हैं, वह प्रसिद्ध हैं ।

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी । रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥

यहां पर तीनों गुणों को समझाया गया है ।

३०, ०० part 39, 110-112

३४. अज्ञानं तु ...

सदसद्भ्याम् = ३/३

यह आधार है जिसके ऊपर सकल शिक्षा आधारित है ।

अज्ञान की परिभाषा है कि उसको परिभाषित नहीं कर सकते । अनिर्वचनीया ।

क्यों अनिर्वचनीया है?

परिभाषित करने के लिये उसको pinpoint (संकेत) करना पडेगा । परन्तु वह न तो है और न हि 'नहीं है' तो फिर उसके बारे में बात कैसे कि जा सकती है । if I am not able to pin point then I cannot define it. जो न तो सत् है और न हि असत् है ।

सत् क्यों नही है क्योंकि सत् उसको कहते हैं 'त्रिकाले अपि तिष्ठति' । sat is that which cannot be negated । सत् चेत् न बाध्येत । what 'is' cannot be negated.

What 'is not' need not be negated. Like you cannot take a treatment for non existent disease, so 'need not' be negated.

If agyaan 'is' i.e. belongs to 'sat' category then it cannot be negated at all. If it belongs to 'asat' category then it need not be negated. But our experience is that we find – ignorance 'is' and it gets destroyed (goes away or 'negated') when knowledge comes therefore whatever goes away cannot be sat and asat. Sat can't go away and asat need not go away. Similary prapanch is अनिर्वचनीय । whatever is negated is अनिर्वचनीय । that is how it is proved that prapanch is mithyaa, shruti negates it. Also shruti negates agyaanam therefore it is mithya.

ज्ञान विरोधी - ज्ञानबाधयत्वात् ज्ञान विरोधी । since it is negated by knowledge it is gyaan virodhi.

'अ' नञ् प्रत्यय है । इसके दो अर्थ होते हैं – भावरुपं और अभावरूपं ।

- जैसे 'अरोगी' में 'रोगी' का अभाव है । वह है हि नहीं, वर्तमान नहीं है। इसके लिये कोई प्रयास करने कि आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह है हि नहीं (non-existent)। There is no need to negate.
- अधर्म में 'अ' प्रत्यय का अर्थ होता है उसका विरोधी । क्योंकि अगर कोई कहता है कि वह अधर्म कर रहा है तो अगर 'अ' का अर्थ अभाव लेंगे तो यह गलत होगा क्योंकि जो है हि नहीं वह कोई कैसे कर सकता है । अतः यहां पर अर्थ है 'विरोधी' । विरोधी 'भावरूपं' है, वह है (exists) । We want to negate it. यदि कोई व्यक्ति मेरा विरोधी है तो वह 'है' (exists).

अब प्रश्न यह है कि 'अज्ञान' में 'अ' का अर्थ ज्ञान-विरोधी है अथवा ज्ञान-का-अभाव है?

विशिष्टाद्वैत में अज्ञान को ज्ञान-का-अभाव मानते हैं । परन्तु वेदान्त में यह ज्ञान-विरोधी है । यह भावरूप है । यह वर्तमान है । इसलिये हि हम यह प्रयास कर रह रहें है ताकि इसका नाश हो क्योंकि यदि यह 'अभाव-रुप' होती तो नाश करने कि आवश्यकता हि नहीं थी । No need to negate. All teachers will be un-employed because all the time our effort is to negate ignorance. All shashtras are working to negate it so it must be something negatable.

अतः यह अज्ञान ज्ञान-विरोधी है और भावरूपं है अर्थात यह 'है' और नाशवान है । इस अज्ञान का इतना सामर्थ्य है कि यह सकल प्रपञ्च उतपन्न कर सकता है परन्तु इतना सामर्थ्यवान नहीं है कि यह सदा विद्यमान रह सके (सत् नहीं है) ।

अथ यह प्रश्न आता है कि इसका प्रमाण क्या है कि यह कुछ काल तक भावरूपं है । तो यहां पर दो प्रमाण दिये गये हैं – एक है स्व-अनुभव और दूसरा है श्रुति-

- जब कोई यह कहता है कि 'अहम् अज्ञ' तो इसकी सत्ता वक्ता के अनुभव से प्रमाणित हो जाती है । When somebody asks do you know Chinese then by my own experience I know that 'I don't know chinese'. Not indriya pratyaksha. अज्ञानस्य प्रमाणं किम्? अनुभवः । कस्य अनुभवः? साक्षिनः अनुभवः। Nobody seems to know 'अहं ब्रह्मास्मि' therefore there must be some kind of ignorance.
- देवात्मा = परब्रह्म की शक्ति है यह मूल अज्ञान या प्रकृति और यह अपने हि गुणों से (सत् रजस् तमस्) से छिपी हुई है – ऐसा स्वेत० उपनिषद् श्रुति कहती है ।

वस्तु और अवस्तु की परिभाषा में पहले अवस्तु कि परिभाषा को लिया है और उसमें भी 'अज्ञान' को लिया है । अज्ञान एक सोपान है जिसकी सहायता से अन्त में ब्रह्म (वस्तु) का निरूपण होगा ।

३५. इदमज्ञानं समष्टि व्यष्टि ...

पदच्छेद – इदम् अज्ञानम् समष्टि व्यष्टि अभिप्रायेण एकम् अनेकम् इति च व्यवह्रियते ।

(इदम् अज्ञानम्) इस अज्ञान को (समष्टि) समष्टि (व्यष्टि) व्यष्टि (अभिप्रायेण) अभिप्राय से/ विवक्षा के अनुसार (एकम्) कभी एक (अनेकम्) और कभी अनेक च (इति) इस प्रकार (व्यवह्रियते) व्यवहार में लाते हैं/कहते हैं ।

इस मूल अज्ञान (प्रकृति) के दो भाग हैं व्यष्टि और समष्टि अज्ञान । समष्टि अज्ञान को 'माया' कहते हैं और व्यष्टि अज्ञान को 'अविद्या' कहते हैं ।

पञ्चदशी में भी अज्ञान को तीन समूह में बाटा गया है –

- सत्त्व प्रधान या माया । यह ईश्वर से संबंधित है।
- रजःप्रधान या अविद्य । यह जीव से संबंधित है।
- तमः प्रधान या प्रपञ्च (नाम-रूप) । यह जगत् से संबंधित है ।

अभी केवल दो (आगे तीसरा भी आयेगा) प्रकृति/मूल-अज्ञान की बात करते हैं –

- उत्कृष्ट उपाधितया विशुद्ध सत्त्व प्रधान या माया या समष्टि अज्ञान - जो कि ईश्वर से संबंधित है, और
- निकृष्ट उपाधितया मलिन सत्त्व प्रधान (रजस् प्रधान) या अविद्या या व्यष्टि अज्ञान - जो कि जीव से संबंधित हैं ।

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता । तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥ पञ्चदशी १.१५ ॥

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिः । सा च द्विविधा ।

चिदानन्दरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब (आभास) से युक्त और तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । वह दो प्रकार की है । 'च' से पता चलता है कि आगे तीसरा प्रकार आयेगा । अभी केवल दो प्रकार बताते हैं – शुद्ध सत्त्वप्रधान और मलिनसत्त्वप्रधान ।

३६. तथाहि यथा वृक्षाणाम् इति

तथाहि यथा वृक्षाणाम् समष्टि अभिप्रायेण वनम् इति एकत्व व्यपदेशः यथा वा जलानाम् समष्टि अभिप्रायेण जलाशयः इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानाम् जीवगत् अज्ञानानाम् समष्टि अभिप्रायेण तद् एकत्वः व्यपदेशः "अजामेकाम्" इत्यादि श्रुतेः ॥

समष्टि को यहां पर उदाहरण से समझाया गया है ।

हम एक पेड़ को 'वृक्ष' कहते हैं जो कि एकवचन संज्ञा है । जब कई सारे पेड़ होते हैं तब हमें कहना चाहिये 'वृक्षाः' जो कि बहुवचन शब्द है । परन्तु हम वृक्षों के समूह को 'वनम्' कहते हैं जो कि एकवचन है । वन (forest) is a singular collective noun. Even though it is singular, it consists of many trees. Similarly 'जलम्' – a drop or wave of water is known as singular. But when lot of waves or water droplets are collectively called as 'जलाशयः' (आशेते अस्मिन् इति जलाशयः) which is singular collective noun.

So tree is व्यष्टि and forest is समष्टि | just as forest is singular noun which is used to talk about the collection of trees taken as whole similarly समष्टि is singular noun which is used to talk about all the वयष्टि taken together.

जो अज्ञान एक जीव में होता है वह व्यष्टि अज्ञान कहलाता है । जब सारे जीव का अज्ञान (जो कि अलग अलग (बहुवचन) भासित होता है और जीवगत है) एक साथ (जैसे सारे व्यष्टि अज्ञान रूपी जल को मिलाकर एक बड़ा जलाशय/समुद्र बना दो या फिर कई वृक्षों के समूह जिसमें हर एक वृक्ष व्यष्टि अज्ञान है) मिला दो तो वह समष्टि अज्ञान कहलाता है ।

- व्यष्टि अज्ञान जीवगत अज्ञान है । यह एक वृक्ष या एक बूंद है । यह अलग अलग भासित होता है । अलग अलग जीव हैं और उन सब का अपना अपना अज्ञान है ।
- समष्टि अज्ञान यह सारे व्यष्टि अज्ञान को मिलाकर कहा गया है ।

प्रमाण क्या है – अजाम् एकाम् (तैत्तिरीय नारायण वल्ली/श्वेत०) समष्टि अज्ञान है । अजा वह है जिसका जन्म नहीं है, न जायते । एकाम् यहां पर ध्यान देने योग्य है ।

३७. इयम् समष्टिः ...

इयम् समष्टिः उत्कृष्ट उपाधितया विशुद्धसत्वप्रधाना (उच्यते) ।

Because it is superior उपाधि or nature. It is superior because it is समष्टि ।

Every citizen have one one vote. When all the citizens put together select a ruler, the ruler has got samashti vote. Every citizen has vyashti vote. Citizens with vyashti vote get 'ruled over' and ruler with 'samashti vote' becomes 'ruler'. Similarly ishwar and jeeva. Jeeva is ruled by ishwar.

पञ्चदशी में –

सत्त्वसुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ॥१.१६॥

प्रकाशरूप सत्त्वगुण की शुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन न होना और सत्त्व की अशुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन होना; इन दोनो कारणों से प्रकृति के क्रमशः माया और अविद्या दो भेद हैं ।

३८. एतद् उपहितं चैतन्यं ...

एतद् उपहितं चैतन्यम् सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व सर्वनियन्तृत्व आदि गुणकम् अव्यक्तम् अन्तर्यामी जगत्कारणम् ईश्वरः इति च व्यपदिश्यते सकल अज्ञान अवभासकत्वात् । "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्ड १.१.९) इति श्रुतेः ।

उपाधि के पहले 'निरुपाधिक चैतन्य' था । उसके अनन्तर उपाधि आई । उस उपाधि के तादात्म्य से 'सोपाधिक चैतन्य' आया ।

निरुपाधिक चैतन्त (वस्तु) + समष्टि अज्ञान = सोपाधिक चैतन्यं (ईश्वर)

- निरुपाधिक चैतन्य – वस्तु
- उपाधि – समष्टि अज्ञान
- सोपाधिक चैतन्य - ईश्वर
- ब्रह्म का स्वरुप द्विविध है-
    - परब्रह्म- मायानुपहित, निरुपाधि, निर्विशेष और निर्गुण है।
    - अपरब्रह्म- मायोपहित, सोपाधि, सविशेष तथा सगुण है और यही ईश्वर है।
- निष्क्रिय ब्रह्म जब माया के कारण सक्रिय होता है, तो वह विवर्त रूप जगत का कर्ता,पालयिता और संहर्ता हो जाता है।
- वह इस प्रपञ्च का साक्षी मात्र ही होता है, भोक्ता नहीं।
- यही मायोपहित ब्रह्म(ईश्वर) वर्णनीय,स्तवनीय और उपासनीय है-
    - निर्गुणं ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थमुपदिश्यते।
- ब्रह्म तो अवाङ्मनोगोचर है, जीव का सीधा सम्बन्ध ब्रह्म के ईश्वर रूप से है, जो स्वयं निर्लिप्त रहते हुए भी, जीव को कर्मों के लिए प्रेरित करता है-
    - एष ह्येव साधुकर्म कारयति स यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्मीषिते।
- वही सत्य है और मिथ्या जगत का उपादान कारण है तथा मायारहित शुद्ध चैतन्य होने से निमित्त कारण भी है।
- सदानंद योगिन्द्र ने इसे लूता(मकड़ी) का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है, जो जाले की उत्पत्ति में शरीर से उपादान तथा चैतन्य से निमित्त कारण है-
    - यथा लूता तंतुकार्य प्रति स्वप्रधानता निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति।
- अपर ब्रह्म के लिए प्रयुक्त सर्वज्ञ,सर्ववित्,सर्वनियन्ता,अंतर्यामी आदि विशेषण वस्तुतः इसी ईश्वर के लिए है।
- यही ईश्वर समस्त जीवों का स्वामी और शासक है।

(एतद्) समष्टि अज्ञानम् उपहितं चैतन्यं (व्यपदिश्यते) नाम से जाना जाता है । किन नामों से जाना जाता है –

- अव्यक्तम्
- अन्तर्यामी – कारणत्वात् । यत् कार्यं तत् कार्यस्य अन्तः यमयति इति अन्तर्यामी । कारण हमेशा कार्य के अन्दर निहित रहता है जैसे मृत्तिका घट में निहित है सुवर्ण आभूषणों में निहित है । वह जगत अन्तर्यामी है ।
- ईश्वर

इस ईश्वर के गुण क्या हैं – सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तृत्व, सर्वसंहारकृत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वसृष्टृत्व आदि ।

उपाधि के कारण अब सगुण ईश्वर हो गया है ।

सकल अज्ञान अवभासकत्वात – क्योंकि यह सारी उपाधियों को प्रकाशित करता है । क्योंकि यह समस्त जीव उपाधि को भासित करता है ।

सत्त्वशुद्धाविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते । मायाबिम्बोवशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ पञ्चदशी १.१६॥

मायाबिम्बः ताम् वशीकृत्य सर्वज्ञः ईश्वरः स्यात् । माया में प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म उस माया को अपने आधीन रखता हुआ, सर्वज्ञातिगुणवान् ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं ।

३९. ईश्वरस्येयं समष्टिः ...

ईश्वरस्य इयं समष्टिः अखिलकारणत्वात् कारणशरीरम् आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवत् आच्छादकत्वात् च आनन्दमयकोशः सर्व उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतः एव स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च लय स्थानम् इति च उच्यते ।

यहां पर कार्य के अनुसार उपाधि/समष्टि-अज्ञान/माया के निम्न पर्यायवाची बताये गये हैं-

- ईश्वरस्य कारण शरीरम्
    - अखिलकारणत्वात्
- ईश्वरस्य आनन्दमयकोशः
    - आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवत् आच्छादकत्वात् च
    - कोश से हमेशा स्वरूप छिपा रहता है परन्तु यहां यह कोश है तो ईश्वर का फिर भी वह ईश्वर को कभी मोहित नही करता (अन्यथा ईश्वर कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकते) । यह कोश भी जीव को (उसकी बुद्धि को) ही मोहित करता है । जीव हमेशा सगुण ईश्वर के चिन्तन में रहता है और कोश से आच्छादित निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म हो नहीं जान पाता ।
      त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि: सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्॥ गीता/७/
      जीव की बुद्धि पर दो आनन्दमय कोश होते हैं । जीव का आनन्दमय कोश उसके अपने स्वरूप को आच्छादित कर देता है और ईश्वर का आनन्दमय कोश जीव के लिये ईश्वर के सही स्वरूप को आच्छादित कर देता है ।
    - ईश्वर ना तो अपने आनन्दमय कोश से आच्छादित होता है न हि जीव के आनन्दमय कोश से आच्छादित होता है । ईश्वर सर्वज्ञ है परन्तु जीव दोनों कोश से आछादित अपने और ईश्वर दोनों के स्वरूप से अनभिज्ञ है ।
      वेदाहं समतीतानी वर्तमानानी चार्जुन । भविष्याणी च भूतानि मां तू वेद न कश्चन ॥ गीता - ७.२६
- ईश्वरस्य सुषुप्ति (वास्तव में योगनिद्रा है ईश्वर की) । हमारी सुषुप्ति में हम अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं । परन्तु ईश्वर योग निद्रा में हैं अतः वह अपने स्वरूप में स्थित हैं ।
    - सर्वः उपरमत्वात् – सारी सृष्टि का लय हो जाता है, लीन हो जाती है ।
    - ईश्वर की यह योग निद्रा प्रलय है (जीव की सुषुप्ति लय है) ।
    - इस कारण से सूक्ष्म स्थूल प्रपञ्च का लय स्थान है ।

४०. यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण ...

यथा व्यष्टि अभिप्रायेण वृक्षाः इति अनेकत्व व्यपदेशः

अब व्यष्टि के संबंध में बात की जायेगी ।

जब वन को बहुवचन के रूप में देखते हैं तब कहते हैं 'कई वृक्ष' अथवा 'वृक्षाः' । अतः एक तो हम नानात्व को देख रहे हैं और दूसरे वृक्ष को देख रहे हैं । इस प्रकार जब हम बहुवचन का उपयोग कर रहे हैं तब हम वृक्ष की दृष्टि से बात कर रहे हैं या वन के एकत्व को नहीं अपितु उसके अनेकत्व को देख रहे हैं । तभी तो हमको 'कई' 'वृक्ष' दिखाई दे रहे हैं । हम व्यष्टि को देख रहे हैं और उसके बहुत्व को देख रहे हैं । केवल दृष्टि भेद है । इसी प्रकार जल और जलाशय है ।

व्यक्तिगत अज्ञान को व्यष्टि अज्ञान कहते हैं ।

प्रमाण –

- यहां माया व्यष्टि अज्ञान है । मायाभिः (माया/३/३) । यहां बहुवचन का प्रयोग । जब बहुवचन का प्रयोग किया जाय तो अर्थ है कि व्यष्टि की दृष्टि से देख रहे हैं ।
- यहां इन्द्र ब्रह्मन् है । वेद में इन्द्र ब्रह्मन् के लिये प्रयोग होता है । पौराणिक काल से इन्द्र एक देवता हो गये ।
- पुरुरूप = बहुरूप (नाना जीव के रुप में)

४१.

हम व्यष्टि और समष्टि का प्रयोग क्यों करते हैं क्योंकि व्यष्टि उपाधि केवल एक जीव से संबंधित है और समष्टि उपाधि का संबंध समष्टि ईश्वर से है । व्यष्टि उपाधि केवल एक जीव में व्याप्त/निहित है ।

व्यष्टि कि व्याप्तता केवल एक जीव में है अतः इस सीमित व्याप्तता के कारण व्यष्टि कहते हैं । सारे समष्टि को व्याप्त करने के कारण समष्टि अज्ञान/उपाधि कहते हैं ।

जैसे उत्तर प्रदेश व्यष्टि है और भारत समष्टि है । क्योंकि उत्तर प्रदेश एक सीमित क्षेत्र को व्याप्त करता है और भारत समष्टि को व्याप्त करता है । उत्तर प्रदेश की भूमि को दोनों व्याप्त करते हैं परन्तु उसके अतिरिक्त सारि भूमि को भारत तो व्याप्त करता है पर उत्तर प्रदेश व्याप्त नहीं करता ।

४२. इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना ॥

व्यष्टि अज्ञान मलिन सत्त्व (रजस्) प्रधान है । रजसः मलिनं सत्त्वं (रजस से मिलन हो गया है, रजसा मलिनं सत्त्वं) । यह inferior उपाधि है क्योंकि यह केवल व्यष्टि है । Citizen has single vote so he gets ruled over.

माया दो प्रकार की है एक तो शुद्ध सत्वप्रधान माया अर्थात् सतोगुण करके रजोगुण तमोगुण दबा हुआ । और दूसरे मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या अर्थात् रजोगुण तमोगुण करके सतोगुण दबा हुआ ।

४३. एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्व ...

एतत् उपहितम् चैतन्यम् अल्पज्ञत्व

एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात् ॥४३॥

निरुपाधिक चैतन्य जब व्यष्टि अज्ञान उपाधि से संयुक्त (conditioned) हो जाता है तो उस सोपाधिक चैतन्य को प्राज्ञ कहते हैं । limited knowledge, helplessness, slavery.

दो उपाधियों के कारण दो अलग अलग सोपाधिक चैतन्य हो जाते हैं – ईश्वर और प्राज्ञ ।

प्राज्ञ चैतन्य illumines only (एक) व्यष्टि अज्ञान अतः प्राज्ञ कहते हैं ।

प्राज्ञ और ईश्वर चैतन्य के नाम हैं जो कि उपाधित है (न कि उपाधि के नाम हैं) ।

निरुपाधिक चैतन्य, व्यष्टि और समष्टि उपाधि/अज्ञान, यह तीनों अनादि हैं । ईश्वर और प्राज्ञ यह दोनों भी अनादि हैं । Mirror (चैतन्य) is अनादि, object (अज्ञान) is अनादि so reflections (ईश्वर, प्राज्ञ) will also be अनादि. परन्तु ईन पांचों में से केवल निरुपाधिक चैतन्य ही सत्य है । बाकि चारों – ईश्वर, प्राज्ञ, समष्टि और व्यष्टि अज्ञान मिथ्या हैं ।

४४. अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात्। ॥

प्रकर्षेण अज्ञः इति प्राज्ञः । प्राज्ञ क्यों कहते हैं । प्राज्ञ नाम उत्पत्ति हेतु । मलिन सत्त्व के कारण अल्प प्रकाश हैं (अधिक प्रकाश नहीं है) और अस्पष्ट है। ऐसा नहीं है कि बिल्कुल भी प्रकाश नहीं है क्योंकि हम जड नहीं है कुछ तो चेतना है ।

यहां तीन स्तर है । हम मध्यम स्तर पर हैं –

- जड समूह (जैसे कि मेज कुर्सी आदि) मे किञ्चिदपि प्रकाश और चेतना नहीं है । ईश्वर में समग्र प्रकाश है । और जीव इन दोनों के मध्य में है जिसमें चेतना तो है परन्तु मलिन सत्त्व के कारण अल्प प्रकाश है ।
- जड समूह मे किञ्चिदपि अहंकार नहीं है । ईश्वर में अहंकार है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' (तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्)। ईश्वर को स्वरूप ज्ञान है । जीव इन दोनों के बीच में है उसमें अहंकार है परन्तु स्वरूप ज्ञान नहीं है (अहंकार विमूढात्म कर्ताहमिति मन्यते) ।

४५. अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात् ...

अस्य अपि इयम् अहंकार अपि कारणत्वात् कारणशरीरम् आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवत् आच्छादकत्वात् च आनन्दमय कोशः सर्व उपरमत्वात् सुषुप्तिः अतः एव स्थूल सूक्ष्म शरीर प्रपञ्च लय स्थानम् इति उच्यते ।

यहां व्यष्टि उपाधि के अलग अलग नाम दिये गये हैं –

- जीवस्य कारण शरीरम् – क्योंकि यह कारण है अहंकार राग द्वेष ममकार संसार आदि का कारण है । यह संसार वह है जो हमारे मन में हम निर्माण करते हैं । यह दृश्यमान जगत् ईश्वर द्वारा निर्मित है । परन्तु हम अपने मन में एक संसार का निर्माण करते हैं – यह मेरा है । यह मेरा नहीं है । यह अच्छा है सुखदायी है (राग) । यह बुरा है दुखदायी है (द्वेष) । हम ऐसे हैं । हम ऐसे नहीं है । यह मेरी पत्नी है । यह मेरा पुत्र है आदि आदि । व्यष्टि अज्ञान इस संसार का कारण शरीर है । शीर्यमाणस्वभावत्वात् शरीरं (perishable)।
- जीवस्य आनन्दमयकोश – आनन्द प्रचुर है और कोशवत् आच्छादित करता है इसलिये आनन्दमय कोश ।
- सुषुप्ति – क्योंकि सर्व (अहंकार, मेरा, तेरा, राग, द्वेषादि) का उपरम (लय) हो जाता है । जो हमारे द्वारा जनित संसार है, व्यष्टि प्रपञ्च है उसका लय हो जाता है । ईश्वर की सृष्टी का लय नहीं होता है ।
- लयस्थानम् – क्योंकि जीवे के समग्र सूक्ष्म स्थूल प्रपञ्च का लय हो जाता है । क्योंकि सूक्ष्म स्थूल शरीर कार्य हैं । कार्य कारण मे लय हो जाता है । हमारे द्वारा अनुभव किये जाने वाले प्रपञ्च का लय हो जाता है । मेरा घर मेरा व्यवसाय आदि यह मेरे संसार और सांसारिक अनुभव का लय हो जाता है । यहां पर सृष्टि का लय नहीं होता है ।

४६. तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिः ...

पदच्छेदः - तदानीम् एतौ ईश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिः अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दम् अनुभवतः । आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः । सुखम् अहम् अवाप्सम् न किञ्चित् अवेदिषम् इति उत्थितस्य-परामर्श-उपपत्तेः च ।

यहां पर श्रुति और युक्ति प्रमाण दिया है ।

तदानीम् = कदानीम् = यदानीम् सुषुप्ति अवस्था है और लय अवस्था है । सबका उपरम हो गया है ।

तदानीम् एतौ ईश्वरप्राज्ञौ आनन्दम् अनुभवतः । ईश्वर और प्राज्ञ (दोनो सोपाधिक चैतन्य (अपनी उपाधि से तादात्म्य किये हुये) न कि निरुपाधिक चैतन्य), प्रलय/योगनिद्राकाल में और लय/सुषुप्तिकाल में आनन्द का अनुभव करते हैं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह अनुभव आया कैसे? क्योंकि किसी भी अनुभव के लिये मन बुद्धि अहंकार (जो कि सूक्ष्म शरीर का अंग हैं) चाहिये । इस अवस्था में तो सूक्ष्म शरीर का लय हो चुका है । किसी भी अनुभव के लिये अन्तःकरण वृत्ति का होना आवश्यक है और लय काल में किसी भी प्रकार कि वृत्ति का सर्वथा अभाव होता है । इसका उत्तर भी यहां दिया गया है ।

इसका उत्तर यह है कि इस आनन्द को अनुभव करने के लिये सूक्ष्म-स्थूल शरीर आदि कि आवश्यकता नहीं है । इस आनन्द को कारण शरीर के द्वारा अनुभव किया जाता है । और इसको कारण-शरीर-वृत्ति कहते हैं जिसको यहां अज्ञान-वृत्ति कहा गया है (अज्ञान ही कारण शरीर है, **अज्ञानवृत्तिभिः**) । यह कारणशरीर वृत्ति (आनन्दमयकोशवृत्ति) मनोवृत्ति (सूक्ष्मशरीरवृत्ति) से भी सूक्ष्म होती है (सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरम्) इसलिये उसे यहां पर अतिसूक्ष्म वृत्ति (**अतिसूक्ष्माभिः**) कहा गया है । इन दोनों में अन्तर इस प्रकार है । जब सूक्ष्म शरीर कि वृत्ति कार्य करती है तब हमको अनुभव होने के समय ही यह पता चल जाता है कि अनुभव हो रहा है अर्थात उस समय ही उस अनुभव का ज्ञान हो रहा है । अतः अनुभव और ज्ञान तुरन्त हो गये । इस सूक्ष्मवृत्ति में सारी प्रक्रिया उसी समय होती है । अतिसूक्ष्म वृत्ति में अनुभव store/register हो जाता है और उसका ज्ञान बाद में होता है जब हम जागते हैं (**उत्थितस्य**) अतः जागने पर हमको ज्ञान होता है कि हम पहले सुषुप्ति अवस्था में थे और हमनें आनन्द का अनुभव किया। In sukshma vritti (जागृतस्वप्नावस्था) it is not that later we inference that I think today I must have heard the class because between 7-8 I was there and swami ji was shouting at the top of his voice therefore the words must have fallen in my ears therefore I must have gained the knowledge. It is not like that. We know it therefore presumption is not necessary.

Whereas in sushupti when we have total cessation of all experiences and you have ananda do you know that I am experiencing ananada. No, it is only when we wake up we know that we have experienced ananda. सुषुप्ति अनुभव काले अनुभवमस्ति इति ज्ञानम् नास्ति । तदा कथम we know this. Only when we wake up we know. Thus it means that during sushupti the anand experience is registered and later that experience is known.

ईश्वर को समष्टि अज्ञान से और जीव को व्यष्टि अज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है ।

आज्ञान तो जड होता है फिर अज्ञान-वृत्ति कैसे अनुभव या ज्ञान उत्पन्न कर सकती है? क्योंकि वह चैतन्य प्रदीप्त है (**चैतन्यप्रदीप्ताभिः**) । यह वृत्ति चैतन्य से ओत-प्रोत है अतः । कौन सा चैतन्य? । समष्टि अज्ञान में ईश्वर चैतन्य और व्यष्टि अज्ञान में प्राज्ञ चैतन्य प्रदीप्त करता है ।

इसका अनुभव और श्रुति प्रमाण दिया है ।

'आनन्दभुक्' शब्द से पता चलता है कि आनन्द का भोक्ता है । ईश्वर के संबंध में श्रुति प्रमाण आवश्यक है क्योंकि जीव के पास अनुभव प्रमाण है । अतः यहां श्रुति प्रमाण ईश्वर की दृष्टि से आवश्यक है ।

अनुभव प्रमाण (जीव अनुभव) – (सुखमहमस्वाप्सं) मैं बड़े सुख से सोया (न किञ्चित) कुछ भी (अवेदिषम्) नहीं जाना क्योंकि सबका तो लय हो जाता । सारे संस्कार तो सूक्ष्म शरीर में होते हैं और उसका तो लय हो गया है । (इति) यह (उत्थितस्य) उठने वाले का परामर्श होता है । यह युक्ति है और युक्ति के लिये व्याप्ति चाहिये होती है ।

जैसे पर्वत पर धूम है अतः अग्नि होगी इसकी व्यापति होती है – यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्नि ।

यहां पर – यत्र यत्र परामर्शः तत्र तत्र अनुभवः – यह व्याप्ति है । हम किसी की बात नहीं कर सकते हैं बिना अनुभव के । यदि हम किसी भी वस्तु के विषय में बात कर रहे हैं तो उसको कभी किसी रूप में अनुभव किया अवश्य होगा । यदि जापान की बात कर रहे हैं तो इसका अर्थ है कि कभी जापान को अनुभव किया होगा ।

या स्मृतिः सा अनुभव पूर्विका (पञ्चदशी) – स्मृति के पहले अनुभव अवश्य होगा । बिना अनुभव के स्मृति नहीं होता ।

अतः यहां पर भी परामर्श (स्मृति) है तो अनुभव अवश्य होगा ।

उपपत्ति का अर्थ होता है अनुमान प्रमाण । यहां पर जीव को अनुमान से पता चलता है ।

अतः अनुमान और श्रुति प्रमाण दिया है ।

४७-४८

अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशय- जलयोरिव वाभेदः।।४७।।

एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाभेदः "एष सर्वेश्वर (एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्"(माण्डू उ ६) इत्यादि श्रुतेः।।४८।।

अब तक ५ वस्तु प्रतिपादिक की गई हैं –

1. निरुपाधिक चैतन्यम् (वस्तु/ब्रह्म)
2. व्यष्टि अज्ञान उपाधि / कारण शरीर
3. समष्टि अज्ञान उपाधि / कारण प्रपञ्च
4. प्राज्ञः
5. ईश्वरः

उपाधि भेद होने के कारण उनसे उपहित चैतन्य के गुण भी अलग अलग हैं ।

हमको दृष्टि परिवर्तन ही करना है । इस नामरूपात्मक दृष्टि से बाहर निकल कर तत्त्व की दृष्टि से जगत् को देखना है । कुछ और परिवर्तन नहीं होगा केवल दृष्टि में ही परिवर्तन होगा । जैसे की एक व्यक्ति एक सुवर्णनिर्मितगणेशविग्रह और सुवर्णनिर्मितचूहे का विग्रह लेकर एक सुवर्णकार के पास विक्रय करने के लिये जाता है । अब उस व्यक्ति की दृष्टि में एक गणेश हैं और एक चूहा है परन्तु सुवर्णकार की दृष्टि से दोनो सुवर्ण ही है । वह तो उन दोनों के भार मे माप के अनुसार ही मूल्य निश्चित करेगा । वह गणेश के सुवर्ण का मोल और चूहे के सुवर्ण का मोल अलग अलग नहीं लगायेगा ।

इसी प्रकार सुवर्ण से निर्मित एक हार है और एक कटिबन्ध है और इन दोनों मे नाम रूपात्मक भेद है परन्तु यदि सुवर्ण की दृष्टि से देखें तो इनमें कोई भेद नहीं है ।

इसी प्रकार मृत्तिका से निर्मित एक घट में और एक भित्ति/कुड्या (wall) है और इन दोनों के कार्य और नाम और रूप अलग अलग हैं परन्तु मृत्तिका की दृष्टि से तो मृत्तिका मात्र ही हैं ।

एक दूसरे उदाहरण में – यदि सागर में दो लहर हैं एक बड़ी और एक छोटी तो यदि लहर की दृष्टि से देखें तो उनके नाम रूप आदि का भेद है और उसके कारण गुण का भेद है । परन्तु यदि सागर की दृष्टि से देखें तो दोनों लहर ही हैं और उनमें कुछ भेद नहीं है । न तो बड़ी लहर अच्छी है और न ही छोटी लहर खराब है । यदि जल की दृष्टि से देखें तो न तो लहर की है (न तो लहर की सत्ता है) और न ही सागर ही कुछ है (न तो सागर की सत्ता है) अपितु दोनों सिर्फ जल ही है । इसी प्रकार यदि एक दृष्टि से देखें तो एक छोटा जलाशय है और एक नदी है परन्तु जल तत्त्व की दृष्टि से देखें तो न तो जलाशय है और न ही नदी ही है अपितु सब कुछ जल ही है ।

पहले तो उपाधि अभेद बताया गया । वन और वृक्ष के उदाहरण से और जल और जलाशय के उदाहरण से । यहां दृष्टि का परिवर्तन है । यदि हम तत्त्व की बात करें तो दोनो उपाधि ही जड वस्तु से बनी है इसलिये दोनों में कोई भेद नहीं है । जो भेद है वह केवल व्यष्टि-समष्टि दृष्टि के कारण है तत्वतः तो

दोनों ही जड वस्तु से निर्मित है अतः तत्वतः कोई भेद नहीं है । जैसे एक छोटी लहर और एक बडी लहर का उदाहरण । यदि नाम रूप की दृष्टि से देखें तो उनमें बड़ा भेद दिखाई देगा । परन्तु यदि जल की दृष्टि से देखें तो उनमें कोई भेद नहीं है । वस्तुतः तो दोनों जल ही है । यदि हम तो सुवर्ण आभूषण देखें तो नाम रूप की दृष्टि से उनमें भेद है परन्तु सुवर्ण की दृष्टि से तो वह दोनों में कोई भेद नही है । इसी प्रकार यहां वन और वृक्ष की दृष्टि से देखें तो वन भी वृक्ष है और वृक्ष भी वृक्ष है । जल की एक छोटी लहर और जलाशय दोनों मे जल की दृष्टि से कोई भेद नहीं है । अतः व्यष्टिसमष्टि-अज्ञान-उपाध्योः अभेदः ।

उपाधिद्वय अभेद के बाद दोनों से उपहित चैतन्य (प्राज्ञ और ईश्वर) में अभेद बताया गया है ।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि एक अल्पज्ञ है और एक सर्वज्ञ है । अल्पज्ञसर्वज्ञविशिष्टधर्मयोः तयोः कथम अभेदः स्यात् परस्पर-विरुद्ध-धर्म-आक्रान्तत्वात् । यद्यपि उपाधिसम्बन्धात् भेदः वर्तते परन्तु तत्वतः अथवा चैतन्यदृष्ट्या अभेदः उच्यते । (ईश्वर – समष्टि उपाधि) = (प्राज्ञ – व्यष्टि उपाधि) = निरुपाधिक चैतन्यमेव । अतः एतत् दृष्ट्या अभेदः वर्तते ।

यह सब श्रुति के अनुसार ही है । तैत्तिरीय में अन्नमय कोश के बाद उसका अन्नमय प्रपञ्च से अभेद प्रतिपादित किया गया है । "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीं श्रिताः "तै० २/२ । यह उपाधि ऐक्यं का श्रुति प्रमाण है ।

सोपाधिकचैतन्यैक्यं माण्डूक्य उपनिषद् में है । अतः इस ऐक्यं का यह श्रुति प्रमाण है । प्रथम पाद में "वैश्वानरः प्रथमः पादः.." यहां व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं किया गया है । अतः यहां विश्व को वैश्वानर कहा गया है । तृतीय पाद में कहा गया है "...आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः" । मा० ५ । और इसके बाद अगले (६) मन्त्र में कहा है – "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ ..." । मा० ६ । यहां प्राज्ञ को सर्वेश्वर और सर्वज्ञ बताया है । षष्ठं मन्त्र में 'एष' पूर्वोक्तः पञ्चमम्न्त्रोक्तः प्राज्ञः अस्ति । अतः इससे यह सिद्धि होता है की श्रुति में समष्टि उपहित चैतन्य और व्यष्टि उपहित चैतन्य में भेद नहीं किया गया है ।

तैत्तिरीप उपाधि ऐक्यं का प्रमाण है और माण्डूक्य सोपाधिकचैतन्यैक्यं का प्रमाण है ।

छिन्न करना का अर्थ होता है – विभाग करना, to cut, to divide

ईश्वर को उपहित (condition) करना इस उदाहरण से समझा जा सकता है । आकाश (तत्त्व) सर्वव्याप्त है परन्तु हम एक घट लाकर रख दें तो उसके अन्दर जो आकाश है वह आकाश ऐसा प्रतीत होता है जैसे अवच्छिन्न हो गया हो, conditioned, limited, divide, cut, उपाधिक हो गया हो । वास्तव में आकाश अवच्छिन्न नहीं है क्योंकि घट को उस स्थान से हटाते ही वह आकाश फिर से अपरिच्छिन्न अवस्था में आ जायेगा । इसको कहते हैं **अवच्छेदवाद** क्योंकि यहां अवच्छेद से समझाया गया ।

इसी प्रकार एक छोटे घट से अवच्छिन्न आकाश और एक बड़े घट से अवच्छिन्न आकाश और सर्वव्याप्त आकाश में कोई न तो कोई बड़ा है और न ही कोई छोटा है अतः आकाश की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है ।

अब यदि घट के स्थान पर वृक्ष लें ले तो एक वृक्ष से अवछिन्न आकाश में और वृक्षों के समूह से अवछिन्न आकाश में तत्वतः कोई भेद नहीं है । वृक्ष से अधिकृत जो आकाश है और वन से अधिकृत आकाश एक ही हैं । मृत्पिण्ड और सुवर्णपिण्ड से अवच्छिन्न आकाश में तो कोई भेद नहीं है ।

इसी को दूसरी प्रकार से भी समझाया जा सकता है । यदि हम आकाश (यहां आकाश तत्त्व नहीं बल्कि आसमान, sky, की बात हो रही है) लें । अब एक घट में जल भर के रख दें जो आकाश उसमें प्रतिबिम्बित होता दिखाई देगा । इससे हमको यह प्रतीत होगा की आकाश limited है परन्तु वह है नहीं । यहां पर सूर्य भी ले सकते हैं । सूर्य का प्रतिबिम्ब आकार में छोटा और तेजहीन सा प्रतीत होता है पर वास्तव में तो ऐसा नहीं है । इसको **प्रतिबिम्बवाद** कहते हैं ।

अब आगे बताया गया है कि निरुपाधिक चैतन्य ही तुरीय है ।

४९.

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते "शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते (स आत्मा स विज्ञेयः)" (माण्डू उ ७) इत्यादिश्रुतेः।।४९।।

वनवृक्ष-तदवत्-अवच्छिन्न-आकाशयोः जलाशय-जल-तद्गत्-प्रतिबिम्ब-आकाशयोः-वा आधारभूत अनुपहित-आकाशवत् अनयोः अज्ञान-तद्-उपहित-चैतन्ययोः आधारभूतम् यद् अनुपहितम् चैतन्यम् तत् तुरीयम् इति उच्यते ।

यह अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद से समझाया गया है । पिछले श्लोक की टिप्पणी में देखना चाहिये ।

अवच्छेदवाद के अनुसार सामस्त आकाश की निरुपाधिक चैतन्य से की गई है और घट में अवच्छिन्न/उपहित/conditioned आकाश की तुलना सोपाधिक चैतन्य से की गई है ।

अनवच्छिन्न सर्वगत चैतन्य ब्रह्मन् है उसको की तुरीय कहा है । यदि अज्ञान को घट मान लें तो व्यष्टि उपाधि उपहित चैतन्य उस घट के द्वारा अवच्छिन्न आकाश है । इसी प्रकार समष्टि अज्ञान उपहितं चैतन्यं ईश्वर है । छोटे घट या एक वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश प्राज्ञ है । बड़े घट या वन से अवच्छिन्न आकाश ईश्वर है ।

प्रतिबिम्बवाद के अनुसार एक जल-बिन्दु प्रतिबिम्बित आकाश (आसमान) प्राज्ञ है और जलाशय-प्रतिबिम्बित आकाश (आसमान) ईश्वर है । व्यष्टि अज्ञान जल-बिन्दु है और जलाशय समष्टि अज्ञान है । सर्वगत बिम्ब आकाश निरुपाधिक चैतन्य है । उसी को तुरीय कहा है ।

प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद लगभग एक जैसे ही हैं । कुछ सूक्ष्म अन्तर है । चिदाभास या चिद्-प्रतिबिम्बित चैतन्य प्राज्ञ है । चित्-बिम्ब तुरीय है ।

अतः निरुपाधिक चैतन्यं/तुरीयं/ब्रह्मन् ही प्राज्ञ, ईश्वर, प्राज्ञ उपाधि और ईश्वर उपाधि का आधार/अधिष्ठान है ।

अब तक हम प्रलय अवस्था (सुषुप्ति) की चर्चा में है । अभी तक जो पांच वस्तु बताई हैं वह सारी अनादि हैं । अतः हम केवल प्राज्ञ और ईश्वर की ही चर्चा कर रहे हैं ।

अन्त में यह पता चलेगा हि ब्रह्मन् सबका (ईश्वर, ईश्वर-उपाधि, प्राज्ञ, प्राज्ञ-उपाधि, हिरण्यगर्भ, हिरण्यगर्भ-उपाधि, तैजस, तैजस-उपाधि, विराट, विराट-उपाधि, विश्व, विश्व-उपाधि) अधिष्ठान है ।

५०.

इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते।।५०।।

तप्तायःपिण्डः

यह अन्योन्याध्यास का उदाहरण है । अग्नि तेजोमय है और निराकार है । एक ठण्डा लोहे का पिण्ड (गोला/गेंद) गोल आकार का है और काले वर्ण का है और उसके कोई भी तेज नहीं है अतः वह ठण्डा है । अब यदि इस लौह पिण्ड हो अग्नि में तपाया जाय तो अब लोहपिण्ड लाल हो जाता है । अब उस लोहपिण्ड में तेज आ गया है और उसके कारण वह गरम भी हो गया है । अतः अब इस लौह पिण्ड में तेज आ गया है (वह गरम हो गया है तप रहा है) और उसका रंग परिवर्तन हो गया है । इसी प्रकार वह अग्नि जो निराकार थी वह अब गोल (पिण्ड) के आकार की भासित होने लग गई है । अतः अब ऐसा भासित हो रहा है कि अग्नि साकार है ।

यहां पर अग्नि को चैतन्य और लोहे को जड माना जा सकता है । इस प्रकार अन्योन्य अध्यास से एक तीसरी वस्तु बन जाती है । जीव जो कि इस तप्तपिण्ड के समान है उसको अहंकार हो जाता है जो कि निराधार है ।

अविद्या अन्योन्य अध्यास के द्वारा ही कारण शरीर के बाहर फैलती है ।

यहां पर अग्नि और पिण्ड के संयोग से दोनों के गुण के परिवर्तन लग रहा है । वस्तुतः यह परिवर्तन है नहीं क्योंकि जब पिण्ड को अग्नि से दूर कर दिया जायेगा तो अग्नि और पिण्ड दोनों वापस अपने स्वरुप को प्राप्त कर लेंगे । यह अन्यान्य अध्यास कहलाता है यहां पर अन्य का गुण भासित होता है । अन्य अन्य वस्तुओं ने संयोग से अपने अपने गुण एक दूसरे को दे दिये ।

महावक्यानि अर्थाः

महावाक्य आत्मा और ब्रहम के एकत्व का ज्ञान कराते हैं । मुख्य महावाक्य चार हैं –

- प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० ५.३)
- तत्त्वमसि (छा० ६.८.७)
- अयमात्मा ब्रह्म (मा० २)
- अहं ब्रह्मास्मि (ब्र० १.४.१०)

तत् त्वम् असि महावाक्य में तत्-पदम् और त्वम्-पदम् की एकता असि के द्वारा बताई गई है । तत्-पदम् और त्वम्-पदम् के अर्थ वाच्य और लक्ष्य दो प्रकार के हो सकते है । महावाक्य को समझने के लिये उसका लक्ष्यार्थ जानना पड़ता है ।

वाच्य-अर्थ व्यावहारिक (बोलचाल वाला अर्थ, जो साधारणतया समझा जाता है) होता है और लक्ष्य-अर्थ सांकेतिक (indicative, implied) होता है । जैसे कोई कहता है कि – 'मैं बाजार से आम लाया । मैने आमा खाया" । यहां पर पहले वाक्य में आम का अर्थ है कि पूरा आम – गुठली और छिलका सहित पूरा आम क्रय किया और दूसरे वाक्य में आम का अर्थ है - गुठली और छिलका छोड़कर बाकी आम खाया । अतः दूसरे वाक्य में आम का लक्ष्यार्थ है - गुठली और छिलका के बिना बाकी आम ।

यहां पर तप्तपिण्ड से बताया है कि जब पिण्ड अग्नि के संयोग से तप्त हो जाता है तब – लोहे से अभिन्न (मिश्रित/अविविक्त) अग्नि वाच्यार्थ है और लोहे से भिन्न (विविक्त) अग्नि लक्ष्यार्थ है ।

जैसे कई बार हम जब 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इस "मैं" में कई वस्तु समाहित रहती हैं जैसे आत्म + जीव + उपाधि । यह वाच्यार्थ हुआ । पर जब कहते हैं शिवोऽहम् तब यहां पर 'अहम्' में केवल 'निरुपाधिक चैतन्यं' ही लक्ष्यार्थ होता है ।

श्लोकार्थः

प्रस्तुत चर्चा में अब तक हम तीन वस्तु जानते हैं –

1. निरुपाधिक चैतन्यं
2. सोपाधिक चैतन्यं (ईश्वर, प्राज्ञ)
3. उपाधि (समष्टि अज्ञान, व्यष्टि अज्ञान)

अतः यहां बताया गया है कि 'तत्-पदम्' का –

- वाच्यार्थ – समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य, ईश्वर, है । यह तीन वस्तुओं का मिश्रण है (है (अब हम जानते हैं कि यह तीन वस्तुओं का मिश्रण है परन्तु साधारण व्यक्ति तो इसको जोड़कर एक ही समझता है, अन्योन्य तादात्मयेन अविविक्तं वर्तते । हम इनका बोलचाल की भाषा मे मिश्रण करके एक कर देते हैं । जैसे जब हम सुबह ईश्वर पूजन करते हैं तो हमारे लिये ईश्वर एक व्यक्ति होता है परन्तु वेदान्त के अनुसार ईश्वर तत्वतः निम्नलिखित तीन वस्तुओं का मिश्रण है)
    - निरुपाधिक तुरीयं चैतन्यं
    - समष्टि अज्ञान उपाधि
    - ईश्वर

    अन्योन्य तादात्मय अविविक्तं वर्तते
- लक्ष्यार्थ – निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य है । यहां भागत्याग लक्षण लेते हैं । ऊपर के तीन में से दो हटा दिये । ईश्वर और उपाधि को हटा दिया तो निरुपाधिक चैतन्य शेष रह गया ।

'त्वम्-पदम्' का –

1. वाच्यार्थ – अज्ञान से उपहित जीव, प्राज्ञ, है । यह तीन वस्तुओं का मिश्रण है (जैसे ऊपर बताया गया – जब हम साधारणतया अपने बारे में बात करते हैं तो अपने को एक व्यक्ति समझते हैं । परन्तु वेदान्त मे अनुसार 'हम' तीन निम्नलिखित वस्तुओं का मिश्रण हैं)
    a. निरुपाधिक तुरीयं चैतन्यं
    b. व्यष्टि अज्ञान उपाधि

c. प्राज्ञ

2. लक्ष्यार्थ – अज्ञान रहित निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य

यदि 'तत्-पदम्' और 'त्वम्-पदम्' दोनों का लक्ष्यार्थ लें तो तत् और त्वम् दोनों ही शुद्ध निरुपाधिक चैतन्य हैं इसलिये दोनों एक हैं अतः तत्त्वमसि आदि महावाक्य में ऐक्यं सिद्ध होता है । यदि वाच्यार्थ लें तो कचरा (problem/confusion) हो जाता है । इस ऐक्य का अनुभव तुरीयावस्था में किया जा सकता है।

- इदम् एव तुरीयं शुद्धचैतन्यम् (समष्टि) अज्ञान आदि (समष्टि कारण + सूक्ष्म + स्थूल शरीर) तद् उपहित चैतन्याभ्याम् (तृतीयाविभक्ति – मिश्रित)
    - यह समास है और यहां तीन वस्तुएं हैं अतः तृतीया विभक्ति का प्रयोग है । इदमेवतुरीयंशुद्धचैतन्यं (१)-अज्ञानादि (२)-तदुपहितंचैतन्य (३)-आभ्याम्
      १. तुरीय २. अज्ञान उपाधि ३. सोपाधिकचैतन्यं
- अविविक्तं (उपर्युक्त तीन वस्तुओं का मिश्रण), जिस प्रकार
- तप्तःपिण्डाय-वत् – एक तप्तपिण्ड की भांति जो कि लालवर्ण की तेजोमय भासित हो रही है – जो देखनें में एक अकेली वस्तु लगती है – परन्तु वस्तुतः वह मिश्रण है गर्म अग्नि और ठंडी लोहे की गेंद का – हम आग का तेज और वर्ण लेते हैं और लोहे की गेंद लेते हैं और मिश्रण करके मिश्रित रुप में एक वस्तु देखते हैं । इसी प्रकार तुरीय-ईश्वर-उपाधि का मिश्रण देखते हैं । इसकी तरह
- महावाक्यस्य वाच्यं भवति
    - महावाक्य का तत्-पद वाच्यं भवति । परन्तु
- विविक्तं सत् – परन्तु जब उसको पृथक-पृथक कर दें, ईश्वर और उपाधि हटा दें तो तुरीयं चैतन्य जो बचता है वह
- लक्ष्यम् इति च उच्यते

५१.

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।।५१।।

सृष्टि के पहले अज्ञान की दो शक्ति बताई हैं । अतः जब भी किसी भी शक्ति की बात होती है तो हमेशा अज्ञान/माया की बात हो रही है । कभी भी शक्ति को शुद्ध चैतन्य की नहीं मानना चाहिये । शक्ति मतलब अज्ञान/माया । ब्रह्मन् या चैतन्यं के संदर्भ में कभी भी शक्ति को नहीं समझना चाहिये ।

आवरण = ढकने कि शक्ति

विक्षेप = आरोप की शक्ति । रचना करने की शक्ति ।

See lecture 28, 51 min onwards….

आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलम् अवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नम् अप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तं - "घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः । तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।"इति
(हस्तामलकम्)।।५२।।

अनया आवृत्तस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिसंसारसम्भावना अपि भवति यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।।५३।।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृत रज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि स्वशक्तादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम् - "विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्"इति । (दृग्दृश्यविवेकः) ।।५४।। शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादनं च भवति।।५५।।

यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति।।५६।।

५७ तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमत् ...

तमः प्रधान विक्षेप शक्तिमत् अज्ञान उपहित चैतन्यात् आकाशः आकाशाद् वायुः वायोः अग्निः अग्नेः आपः अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते "एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" ।

- अब यहां पर सृष्टि प्रकरण आरम्भ हो रहा है । सृष्टि प्रकरण बताने के लिये हर एक वस्तु कि उत्पत्ति आदि बताना संभव नहीं है अतः उनके विभाग कर दिये जाते हैं और हर विभाग का उत्पत्ति क्रम बताया जाता है । उस विभाग की सभी वस्तुओं का उत्पत्ति क्रम उस विभाग के क्रम के अनुसार होगा ।
  हर दर्शन अपने मत और सुबिधा के अनुसार विभाग करता है और उनकी उतपत्ति आदि का क्रम बताता है ।
  इन विभाग को तत्त्वम् भी कहते हैं (यह 'तत्त्व' ब्रह्म तत्त्व से भिन्न है और विवक्षा के अनुसार प्रयोग में लाया जाता है । जैसे – उस व्यक्ति का शरीर पञ्च तत्त्वों मे विलीन हो गया) ।
- वेदान्त शास्त्र में २४ तत्त्व हैं –
  - ५ महाभूत
  - सूक्ष्म शरीर के १६ अवयव –
    - ५ प्राण
    - १० इन्द्रिय
    - मन
    - बुद्धि
  - चित्त
  - अहंकार

तैत्तिरीय उपनिषद् में आत्मनः आकाशः सम्भूतः कहा गया है । तत्त्वबोध में कहा गया है –

- ब्रह्माश्रया सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति ॥ ततः आकाश संभूतः .....

यहां माया (समष्टि अज्ञान) के दो विशेषण हैं –

- विक्षेपशक्तिमत् – यहां पर सृष्टि के बारे में बात कर रहे हैं । इसलिये यहां विक्षेप शक्ति को महत्व दिया जा रहा है । यहां पर कल्पना या संभावना या भ्रम होने जा रहा है ।
- तमःप्रधान – क्योंकि सृष्टि जड रूप है ।

तीन प्रकार के अज्ञान हैं –

- सत्त्व प्रधान अज्ञान ईश्वर की उपाधि बनता है इसलिये सर्वज्ञ हैं (कोई आवरण नहीं है)।
- रजःप्रधान अज्ञान जीव की उपाधि है इसलिये अल्पज्ञः (आधा आवरण है)।
- तमःप्रधान अज्ञान से जगत् की उत्पत्ति होती है इसलिये वह जड है (संपूर्ण आवरण है)।

इस प्रकार (तमःप्रधान, विक्षेपमत) समष्टि अज्ञान (माया) से उपहित चैतन्य, ईश्वर, से इन तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है ।

इस माया (समष्टि उपाधि) में तीनों गुण होते है और इससे ही सूक्ष्म शरीर और स्थूल महाभूतों कि उत्पत्ति होती है । यह सारे कारण शरीरों (अव्यक्त) का बीज है । इन कारण शरीरों से ही सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं । अतः माया सारे सूक्ष्म शरीर का बीज है । सारे चर और अचर, मनुष्य, पशु, वृक्ष और ओषधियों आदि का कारण शरीर इस माया में ही है ।

पर्वत नदी पत्थर आदि सब जड वस्तुओं को **स्थूल प्रपञ्च** कहते हैं । इन जड प्रपञ्च के कारण को **कारण प्रपञ्च** कहते हैं । यह सारे कारण प्रपञ्च भी माया में ही हैं । इनका बीज भी माया ही है ।

ब्रह्म और माया दोनों अनादि हैं ।

सृष्टि के क्रम में सर्वप्रथम माया (समष्टि उपाधि) और निरुपाधिक ब्रह्म के संयोग से सूक्ष्म महाभूत (तन्मात्रा/अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत) उत्पन्न होते हैं जिनमें तीनो गुण होते है। इन त्रिगुणात्मक तन्मात्राओं से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होते हैं । अतः सबसे पहले सूक्ष्म तत्त्वों कि चर्चा होगी ।

तमः प्रधान क्योंकि जो सृष्टि आने वाली है वह जड है । इसलिये पञ्चदशी में तीन अज्ञान हैं

जिस वस्तु में जितने अल्प गुण होते हैं वह वस्तु उतनी अधिक सूक्ष्म होती है अथवा यह भी कह सकते हैं कि जिस वस्तु में जितने अधिक गुण होते हैं वह वस्तु उतनी अधिक स्थूल होती है । जिसमें जितने अधिक गुण होंगे वह उतनी अधिक इन्द्रियों से जानी भी जा सकेगी । इसका उदाहरण नीचे आयेगा ।

यह क्रम इस प्रकार है –

- सर्वप्रथम सूक्ष्म आकाश की उत्पत्ति हुई । इस सूक्ष्माकाश का गुण है शब्द और शब्द केवल आकाश का ही गुण है ।
    - यदि अगर कोई और व्यक्ति या वस्तु से शब्द सुनाई दे रहा है तो इसका अर्थ है कि वह केवल शब्द को व्यक्त कर रहे है । They are just manifesting the sound that is already in the akash. They are bringing out the sound. Mouth is only अभिव्यक्ति कारण । like mirror reflects the light, it doesn't produce the light. Prism doesn't produce the new lights it just brings out the colors already present there.
- उस सूक्ष्माकाश से सूक्ष्म वायू की उत्पत्ति हुई । वायु के दो गुण हैं – शब्द तथा स्पर्श ।
    - यहां पर शंका हो सकती है कि वायु कि उत्पत्ति आकाश से हुई है इसका अर्थ है कि ब्रह्म से नहीं हुई है (श्रुति कहती है आकाशाद्वायुः) । इसका अर्थ हुआ कि ब्रह्म सर्वकारण नहीं है । अगर ऐसा है तो ब्रह्म को जानकर संपूर्ण अज्ञान का नाश नहीं होगा । ब्रह्म ज्ञाने सर्वविज्ञानम् न भवति ।
      आकाशाद् वायु का अर्थ है – आकाशाद् अवस्थ रूप ब्रह्मणः वायुः सम्भूतः । आकाश, ब्रह्म + नाम रूप ही तो है । इसी प्रकार आगे भी अर्थ लिया जाना चाहिये ।
- सूक्ष्मवायु से सूक्ष्म तेज की उत्पत्ति हुई । तेज के तीन गुण हैं – शब्द स्पर्श और रूप ।
- सूक्ष्म तेज से सूक्ष्म आपः (जलों) कि उत्पत्ति हुई । सूक्ष्म जल के ४ गुण हैं – शब्द स्पर्श रूप और रस ।
    - यदि कोई यह कहे कि स्थूल जल में तो कोई भी स्वाद नहीं होता । तो उस व्यक्ति नें यह जाना कैसे ? उसने जल का स्वाद लिया होगा । अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जल जिह्वा का विषय है अतः उसमें रस गुण है । It has got a unique standard taste. This tasteless taste is used to distinguish between different tastes.
    - गन्ध जल का गुण नहीं है अतः जल को घ्राणेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता ।
- सूक्ष्म आपः से सूक्ष्म पृथिवी तत्त्व की उत्पत्ति हुई । इसमें पाँचों गुण हैं – शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ।

सूक्ष्मता इससे पता चलती है कि किसमें कितने अधिक गुण हैं अतः वह उतनी अधिक इन्द्रियों से जानी जा सकेगी । जैसे पृथिवी में पाँचों गुण है अतः वह पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का विषय है । अग्नि में तीन ही गुण हैं और वह केवल तीन हि इन्द्रियों का विषय है अग्नि कि गन्ध नहीं ली जा सकती और उसका स्वाद नहीं लिया जा सकता । अतः अग्नि पृथिवी से सूक्ष्म है । आकाश इन पाँचों में सबसे सूक्ष्म है और पृथिवी सबसे स्थूल है । आकाशः सूक्ष्मतममस्ति । पृथिवी स्थूलतममस्ति ।

यहां पर सारे पञ्चभूत सूक्ष्म अवस्था में ही हैं । इस अवस्था में यह पञ्चभूत इन्द्रियों का विषय नहीं है । पञ्चीकरण के बाद यह इन्द्रियों के विषय बनते हैं ।

कारणस्य गुणः कार्ये अनुवर्तन्ते ।

Since they are born out of maya, these 5 subtle elements are also supposed to have these 5 gunas. Rule is that whatever is the property of cause it is present in result also.

If gold is cause then ornament also has gold. If gold contains 5% copper then ornament also contains 5% copper.

त्रिगुण

हम सृष्टि में यह तीन गुण सहज ही देख सकते हैं अतः इससे यह ज्ञान होता है कि माया जो कि इस सारे प्रपञ्च का बीज है उसमें यह सारे गुण विद्यमान होंगे ।

जिसमें भी मेधा शक्ति होती है और ज्ञान की क्षमता होती है वह सत्त्व गुण के कारण होती है । क्रियाशीलता रजस् गुण के कारण होती है । मेधा/ज्ञान कि क्षमता और क्रिया कि क्षमता यह दोनों न हो वह जड होता है ।

जैसे कि बुद्धि मन आदि में ज्ञान की क्षमता होती है । इनमें विचार की क्षमता होती है । इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों मे ज्ञान प्राप्त करनें कि क्षमता होती है । अतः यह सात्विक अंश से बने होते है ।

फेफड़े हृदय आदि केवल क्रिया करते हैं इनमें ज्ञान कि क्षमता नहीं देखी जाती है अतः इनमें रजो गुण होता है । इस प्रकार कर्मेन्द्रियों में भी रजो गुण देखा जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा हम केवल क्रिया कर सकते हैं ।

५८. तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात् ...

तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य । तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषुत्पद्यन्ते।।५८।।

पुर्व श्लोक में तमःप्रधान कहा गया है । कार्य के गुण से कारण का गुण जाना जा सकता है । वह प्रमाण यहां दिया गया है । From the type of ornaments we can infer the type of material used.

कार्यात् कारणगुणस्य अर्थापत्त्या ज्ञानं भवति । सारा प्रपञ्च जड है इसलिये कारण में जडता का आधिक्य होगा इसलिये जड प्रधान है ।

तेषु (पञ्चभूतेषु) जाड्य (जडत्य भावः) आधिक्यम् (आधिक्यस्य भावः) तमो गुणस्य कारणम् । जाड्यम् प्रत्यक्ष गम्यं होता है और इससे तमो गुण का अनुमान होता है (अनुमान गम्यं) ।

तदानीं (सृष्टि काले) यह तीनों गुण (सत्त्व रजस् तमस्) कारण के गुण होने के कारण (कारणगुणप्रक्रमेण, त्रिगुणात्मिका माया) पञ्च भूत में भी (तेषु आकाशादिषु) उत्पन्न हो जाते हैं । क्योंकि कारण (माया) में यह तीनों गुण हैं अतः सूक्ष्म भूत (तन्मात्रा) में भी यह गुण आ जाते हैं । अतः यह तन्मात्रा भी त्रिगुणात्मिका होते हैं । कारणस्य गुणाः कार्ये अनुवर्तन्ते । यह गुण कारण में होने के कारण (कारण गुण की अनुवृत्ति होने के कारण) कार्य में भी प्रकट हो जाते हैं ।

कारणगुणप्रक्रमेण -

यहां केवल आकाश का नाम लिया है क्योंकि यह क्रम इस प्रकार है (प्रक्रमेण) त्रिगुणात्मिका माया रूपी कारण से कार्य रूपी आकाश में यह तीनों गुण आ गये । त्रिगुणात्मिका आकाश रूपी कारण से कार्य रूपी वायु (आकाशाद् वायु) में यह गुण आ गया । इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है । कारण रूपी वायू से कार्य रूपी अग्नि में यह गुण आ गये । अग्नि गुणाः जले अनुवर्तन्ते । जल गुणाः पृथीव्यां अनुवर्तन्ते ।

अज्ञान कारण क्रम से अपने गुण सबको देता है (सीधे नहीं देता) ।

५९. एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते ॥

एतानि एव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि च उच्यन्ते ।

यह इन पञ्चमहाभूत के अलग अलग नाम बताये गये हैं । नामकरण किया है ।

यहां पर सूक्ष्म अवस्था में उनमें केवल वही तत्त्व होता है । जैसे सूक्ष्म अग्नि तत्त्व में केवल शुद्ध अग्नि तत्त्व है और कुछ भी नहीं है (इसके विपरीत स्थूल अग्नि में सारे तत्त्व होंगे) । इसी कारण से इन्हे 'तन्मात्रा' कहते हैं । तत् मात्रम् (मात्रम् का अर्थ है केवल (जैसे ५ रुपय मात्र), those only in pure state) – केवल (मात्र) वही (तत्) है ।

६०. एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥

एतेभ्यः (पञ्चमी विभक्ति) इनसे (सूक्ष्म पञ्चभूतों से) –

- सूक्ष्म शरीर (सप्तदश अवयव)
- स्थूल भूत (पञ्च स्थूल भूत)

की उत्पत्ति होती है ।

इन सूक्ष्म भूत के एक हिस्से से सारे सूक्ष्म शरीर और दूसरे हिस्से से स्थूल भूत बनते हैं । बाकी हिस्से से सूक्ष्म लोक बनते हैं (सुतल वितल आदि भूः भुवः स्वः आदि १४ लोक) । ऐसा शास्त्र कहते हैं ।

६१. सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि ॥

सूक्ष्म शरीर के १६ अवयव होते हैं ।

सूक्ष्म शरीर को लिंगशरीर भी कहते हैं क्योंकि –

- लिंग का अर्थ होता है चिह्न (clue, indication) । सूक्ष्म शरीर is indication of आत्मादि चैतन्यं । क्योंकि केवल लिंग शरीर ही चैतन्य को व्यक्त () करता है और लिंग शरीर से ही चैतन्य का आभास होता है और इसके माध्यम से ही चैतन्य को जाना जा सकता है । लिंग शरीरम् only reflects consciousness. therefore सूक्ष्म शरीर possesses प्रतिबिम्बित चैतन्यं (आभास चैतन्यं) which is a clue to recognize बिम्ब चैतन्यं (निरुपाधिक चैतन्यं) । अन्यथा table में भी निरुपाधिक चैतन्य है परन्तु उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यं नही है क्योंकि उसमें सूक्ष्म शरीर नहीं है । इसलिये table के द्वारा कभी भी साक्षी (निरुपाधिक) चैतन्य का ज्ञान नहीं हो सकता । But in the case of living beings:
  क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (गीता १३.२) । 'तत् त्वम् असि' में 'त्वम्' की आवश्यकता इसलिये ही होती है क्योंकि हम table को तत्त्वमसि नही कह सकते । इस जगत् से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य नहीं है परन्तु स्वयं से (या चेतन वस्तु से) जाना जा सकता है क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य है ।
  We can say aham brahmasmi but cannot say table brahma asti because brahman is not manifest in table.

केवल सूक्ष्म शरीर में ही प्रतिबिम्बित चैतन्य है इसलिये वह लिंग है । जैसे दर्पण लिंग है और उसमें प्रतिबिम्बित अपने मुख से हम अपने मुख को जान सकते हैं ।

६२. अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति।।६२।।

सूक्ष्म शरीर के १७ अवयव हैं – ५ ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि (+अहंकार), मनस् (+चित्त), ५ कर्मेन्द्रिय, ५ वायु (प्राण) ।

६३. ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि ॥

श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा घ्राण – यह ५ ज्ञानेन्द्रिय आख्यानि (नामानि) ।

यह इन्द्रिय सूक्ष्म हैं । यह स्थूल नहीं है । यह इन्द्रिय क्षमता या शक्ति है ।

तत्त्वबोध से –

श्रोत्रस्य दिग्देवता । त्वचो वायुः । चक्षुषः सूर्यः । रसनाया वरुणः । घ्राणस्याश्विनौ । इति ज्ञानेन्द्रियदेवताः ।

श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणम् । त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणम् । चक्षुषो विषयो रूपग्रहणम् । रसनाया विषयो रसग्रहणम् । घ्राणस्य विषयो गन्धग्रहणमिति ॥

- ज्ञानेन्द्रिय बाह्य करण हैं । मन बुद्धि आदि अन्तः करण हैं । कुतः? यदि हम ऐसा कहते हैं कि मन अन्दर है और ज्ञानेन्द्रिय बाहर हैं तो यह सही नहीं है । क्योंकि मन तो सारी ज्ञानेन्द्रियों में व्याप्त है अतः इस न्याय से तो मन आदि भी बाह्य करण हुआ । इसका कारण यह है कि मन को बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिये बाह्य करण (ज्ञानेन्द्रियों) की आवश्यक्ता होती है परन्तु ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य जगत के ज्ञान के लिये मन आदि की आवश्यकता नहीं है । यह कारण पञ्चदशी में संकेत किया है । Mind can contact the objects through sense organs therefore organs stand between object and mind and therefore mind is supposed to be inner instrument because it requires a medium to contact external world. इन्द्रियव्यविहितत्वात् विषयाणाम् ।

Sense organs are like gates and therefore mind can come out through these gates only and therefore mind is inside. Therefore अन्तः and बाह्यम् is figurative and not spacial.

६४. एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो ...

एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।।६४।।

एतानि = पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि

व्यस्तेभ्यः (वि + अस्ति) – का अर्थ है व्यष्टि सात्तिक अंश से । वि+अस्ति का अर्थ है अलग-अलग । यहां व्यष्टि का उस व्यष्टि उपाधि से कोई सम्बन्ध नहीं है । यहां व्यष्टि में केवल पांच चीजें है और वह हैं पांच तन्मात्रा । यहां केवल साधारण अर्थ है । यहां केवल इतना अर्थ है कि आकाशादि तत्त्वों से अलग अलग यह सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । जैसे केवल आकाश से श्रोत्र उत्पन्न होता है और केवल अग्नि से चक्षु उत्पन्न होता है । इसके विपरीत अन्तःकरण समष्टि तन्मात्रा से उत्पन्न होता है अर्थात वह इन तन्मात्राओं के मिश्रण से उत्पन्न होता है अतः समष्टि = (आकाश + वायु + अग्नि + आपः + पृथिवी) । वहां समष्टि भी साधारण अर्थ में है ।

अब तन्मात्रा से सूक्ष्म शरीर का क्रम बताया गया है । ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान कि क्षमता होती है अतः इससे यह सिद्ध होता है कि यह सात्त्विक अंश से निर्मित हैं । यह तत्त्वबोध में दिया गया है –

> एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्य आकाशस्य सात्त्विकांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं सम्भूतम् । वायोः सात्त्विकांशात्त्वगिन्द्रियं सम्भूतम् । अग्नेः सात्त्विकांशाच्चक्षुरिन्द्रियं सम्भूतम् । जलस्य सात्त्विकांशाद्रसनेन्द्रियं सम्भूतम् । पृथिव्याः सात्त्विकांशाद्घ्राणेन्द्रियं सम्भूतम् ॥

तन्मात्रा के व्यष्टि सात्त्विक अंश से	**उत्पन्न ज्ञानेन्द्रिय**
आकाश	श्रोत्र
वायु	त्वक्
अग्नि	चक्षु
जल	रसना
पृथिवी	घ्राण

इन ज्ञानेन्द्रिय के विषया का भी कारण है –

- आकाशात् श्रोत्रः उत्पन्नः अपि च आकाशस्य गुणम् शब्दः अस्ति अतः श्रोत्रम स्वकारणम् गुणम् गृह्णाति (अपने कारण (आकाश) का गुण ग्रहण करता है) । श्रोत्रेन्द्रियम् श्रोत्रकारणाकाशात् गुणम् गृह्णाति ।
- त्वक् इन्द्रिय त्वक्कारणवायुगुणम् गृह्णाति । परन्तु अस्मिन् वाक्ये किञ्चित क्लेशोऽस्ति । कुतः । वायोः गुणद्वयमस्ति शब्दस्पर्शनामकम् । यहां पर केवल विशेष गुण ही ग्रहण किया जाता है जो कि है स्पर्श क्योंकि शब्द तो आकाश में भी है । अतः त्वगिन्द्रियं त्वक्कारणभूतवायोः विशेषगुणं स्पर्शं गृह्णाति ।
- अग्नेः विशेष गुणम् अस्ति रूप । अतः चक्षुरिन्द्रियं अग्नेः विशेषगुणं रूपं गृह्णाति ।
- रसनेन्द्रियं रसं गृह्णाति ।
- घ्राणेन्द्रियं गन्धं गृह्णाति ।

प्रत्येक इन्द्रियं स्वकारणभूतस्य तन्मात्राः विशेषगुणं गृह्णाति ।

६५. बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः ॥

नाम का अर्थ यहां पर है 'मतलब' या 'अर्थात्'

अन्तःकरण का वास्तविक स्वरूप तो एक ही है । इसके कार्य के अनुसार भेद है । क्रियाभेद होने से चार प्रकार के नाम भेद हो गये । जैसे एक व्यक्ति मन्दिर में पूजन करने लगा तो उसे पुजारी कहने लगे और जब पढ़ने पढ़ाने लगा तो उसे पण्डित कहते लगे । इस प्रकार एक ब्राह्मण के अनेक नाम क्रिया भेद से हो गये । जिस प्रकार का विचार आता है उससे पता चलता है कि अन्तःकरण बुद्धि का कार्य कर रहा है या मन का कार्य कर रहा है आदि आदि । अन्तःकरण के हिस्से नहीं है । जैसे किसी पुरुष को देखने पर यह सोचने लगे कि यह पुरुष देवदत्त है या कोई और है । जब ऐसी अन्तःकरण वृत्ति हुई तो इसको मन कहने लगे । और जब उस वृत्ति नें ऐसा विचार किया कि इस व्यक्ति को श्रीगंगाजीके तीर उस समय देखा था ऐसी वृत्ति को चित्त कहने लगे । जब उस वृत्ति नें यह निश्चय किया कि यह पुरुष वही है तब उसी वृत्ति को बुद्धि कहने लगे । और जब उसने दृढ निश्चय किया कि यह पुरुष वही है इसमें किञ्चित भी संदेह नहीं है तब उस वृत्ति को अहंकार कहने लगे ।

जब ऐसे विचार आते हैं जिससे किसी बात का निश्चय किया जाता है तो वह विचार बुद्धि कहलाता है । जब हमारा विचारा पक्का निर्णय करता है तो वह है बुद्धि । Deciding, judgement, discrimination functions etc.

बुद्धेर्देवता ब्रह्मा ।

६६. मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः ॥

संकल्प और विकल्प एक दूसरे के विपरीत होते हैं जैसे pendulum का oscilaation. संकल्प का अर्थ है एक (positive) दिशा में सोचना और विकल्प उसके विपरीत सोचना । जब इस प्रकार विपरीत कल्पनायें हो या विचार आयें तब मन कार्य कर रहा है । संदेह संशय अनिश्चय आदि यह सब मन की वृत्तियां हैं ।

सारी भावना भी मन के कारण होती हैं जैसे राग-द्वेष प्रेम ममता आदि । यह भावना वृत्तियां साधारण विचारवृत्तियों से सूक्ष्म होती हैं ।

मनसो देवता चन्द्रमा ।

६७. अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः ॥

अनयोः (इदम् ७/२) इन दोनों में अन्तर्भाव है चित्त और अहंकार ।

अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्।।६८।।

अनुसन्धान (thinking or remembering), सन्धानम् = fixing (the mind upon an object, eg शरसन्धानम् fixing the arrow on bow). It is of two types : when fixing first time, like had an thought now and have fixed mind on it is सन्धानम्, when after an experience fixing mind on the past object (पूर्व अनुभव) it is अनुसन्धानम् । चिन्तन करना इनके लिये अनुभव या database/memory bn या स्मृति आवश्यक होती है । पूर्व अनुभवों के कारण जो हमारे अन्दर स्मृति होती है वह चित्त है । जैसे पहले कभी नमक का स्वाद लिया था तो इससे यह ज्ञान चित्त में है कि नमक का स्वाद कैसा होता है वह कैसा दिखता है आदि आदि ।

सारी वासना चित्त में ही जमा होती हैं ।

चित्तस्य देवता वासुदेवः । विष्णु का कार्य होता है रक्षा करना और पालन करना । चित्त का भी यही कार्य होता है कि वह अनुभव को स्मृति रूप में रक्षित करे अतः ।

अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहङ्कारः।।६९।।

जब ऐसा विचार आता है जो subjective होता है । यह विचार कैसा भी हो सकता है जैसे – मैने देखा, मैने खाया, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है आदि आदि ।

An identifying thought is अहंकार ।

अहंकार का अर्थ pride भी होता है परन्तु यहां उसका भाव वैसा नहीं है । here sense of I-ness is being talked about. Even a humble person says "I am coming". The I-ness here refers to this ahamkara.

अहंकारस्य देवता रुद्रः । रोदयति इति रुद्रः । जब अहंकार बड़ जाता है तब वह हमको बहुत रुलाता है ।

७०. एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते ॥

एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टिसात्त्विकांशात् मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तान्तःकरणानि सम्भूतानि ॥ -- तत्त्वबोध

अन्तःकरण से ज्ञान होता है अतः यह भी सत्त्वगुण से निर्मित है यह सिद्ध होता है । अब प्रश्न है कि यह अन्तःकरण किस तत्त्व/तन्मात्रा से बने हैं? हर ज्ञानेन्द्रिय से जो ज्ञान होता है उसका आधार अन्तःकरण है । जैसे नेत्र का प्रयोग करने के लिये घ्राण आवश्यक नहीं है इससे यह पता चलता है कि जो तन्मात्रा नेत्र में है वह घ्राण में नहीं है नहीं तो नेत्र के विषयों का भी ज्ञान घ्राण से हो जाता। हर ज्ञानेन्द्रिय के विषय को अन्तःकरण जान सकता है (के द्वारा जाना जाता है) इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तःकरण में पाँचों तन्मात्रा उपस्थित हैं ।

पुनः का प्रयोग किया गया है 'तु' के अर्थ में – वैलक्षण्यार्थे = ज्ञानेन्द्रियों से अलग दिखाने के लिये (on the other hand).

अतः अन्तःकरण सारी तन्मात्राओं के समष्टि (समष्टि का यहां अर्थ है मिलकर, समष्टि = आकाश + वायु + अग्नि + आपः + पृथिवी) सात्त्विक अंश के मिश्रण से बना है । व्यस्तेभ्यः ज्ञानेन्द्रियाणि मिलितेभ्यः अन्तःकरणम् ।

इसके साथ सात्त्विक अंश का कार्य समाप्त हो गया ।

एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।।७१।।

एनेषां का अर्थ है ५-ज्ञानेन्द्रियाणि + मन + बुद्धि । यहां बताया है कि यह सात्त्विक अंश से क्यों निर्मित हैं । सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् । यहां प्रकाशित का अर्थ है ज्ञान की क्षमता है । They make the other things known.

७२. इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति ॥

विज्ञान विकारात्वात् विज्ञानमय कोशः । विज्ञानमय कोश को 'अहंकार' या 'जीवः' भी कहते हैं ।

अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते।।७३।।

अहं कर्ता अहं भोक्ता अहं सुखी अहं दुखी आदि इन अभिमान के कारण पुनरपि जननं पुनरपि मरणं होता है । बार बार आता है और जाता है । संसार का भोग करता है । सम्यक सरति इति संसारी ।

व्यावकारिक जीव कहते हैं । ज्ञान और कर्म का व्यवहार करता है । सार संसार में व्यवहार ही होता रहता है । आत्मा अव्यवहार्यम् । विज्ञानमय व्यावहारिक है । जीव प्राण धारणे इति जीव । जब तक प्राण है तब तक जीवित है फिर दूसरी जगह वही कहानी शुरु ।

मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।।७४।।

मनुते इति मनः मननम् । मनः (मननम्) विकार कारणे मनोमय कोशः ।

विज्ञानमय और मनोमय कोश सात्त्विक अंश के कार्य हैं । अब हम रजोगुण के कार्य देखते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि।।७५।।

यह भौतिक इन्द्रिय नहीं है । यहां सूक्ष्म शरीर और क्षमता की चर्चा हो रही है ।

एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।।७६।।

यह पुनः (ज्ञानेन्द्रियों से पृथक करने के लिये) व्यस्तेभ्य (अलग अलग) रजोंश से उत्पन्न होते हैं ।

एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्य आकाशस्य राजसांशाद्वागिन्द्रियं सम्भूतम् । वायोः राजसांशात्पाणीन्द्रियं सम्भूतम् । वन्हेः राजसांशात्पादेन्द्रियं सम्भूतम् । जलस्य राजसांशादुपस्थेन्द्रियं सम्भूतम् । पृथिव्या राजसांशाद्गुदेन्द्रियं सम्भूतम् ॥ -- तत्त्वबोध

कर्मेन्द्रिय की क्रिया क्षमता से पता चलता है कि यह रजसिक अंश से बनी है । इनके क्रम ऊपर दिये गये हैं । यह कर्मेन्द्रिय **व्यष्टि** रजो गुण से बने हैं ।

यह स्थूल अंग नहीं है यह इन्द्रियां है अतः यह सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय हैं । अभी हम सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति क्रम की बात कर रहे हैं ।

इन कर्मेन्द्रियों मे कर्म करने की क्षमता /क्रियाशीलता प्राण शक्ति के कारण होती है ।

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः।।७७।।

प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।।७८।।

Generally when we talk about respiratory system we talk about both inhalation and exhalation and when we talk about excretory system we talk about only evacuation. But in shashtras they talk about vayu that goes forward and vayu that goes downward.

Vayu that goes forward = exhalation

Vayu that goes downward (अधो गमनवान वायुः) = inhalation and excretion

अपान is inhalation and excretion and प्राण as exhalation

प्राग् गमनवान – that which goes forward i.e. exhalation. It is in the tip of nose.

अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती।।७९।।

अवाक् गमनवान् = going downward. Taking the excretion it stays in payu (anus). It is there in nasa also. But the last portion is when leaving body is paayu.

व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती।।८०।।

Vishvak = sarvatra. Circulatory system. Stays on whole body.

उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः।।८१।।

Supposed to be in kantha. Which goes upwards. Its function is mainly during death. उत्क्रमण (death) responsible for outgoing of prana or jeeva. Reversing system.

समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः।।८२।।

In the middle of body what ever is eaten (ashita) whatever is drunk (apIta) annam (food), samikaran = it sorts out. it distributes/divides into carbohydrates, protein etc metabolism procedure is talked.

Chandogya talks about food having 3 parts = sthool, Madhya, suksha. Sthool caters to taste and goes out. Madhyama gets circulated in physical system. Sukshma goes up catering to manas aadi.

It is in the middle of body, i.e. stomach.

समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणम् ।।८३।।

Samikaran = cooking/digestion (here) = converting into rasa (nutrition), rudhir, shukra (purush beej, retas), purisham (excretion waster, malam)

Samaan is vaishvanara agni. Aham vaishvaanaro bhootva.

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति।।८४।। तत्र नाग उद्गिरणकरः । कूर्म उन्मीलनकरः । कृकलः क्षुत्करः । देवदत्तो जृम्भणकरः । धनञ्जयः पोषणकरः।।८५।।

एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्।।८६।।

कुछ लोग कहते हैं कि उपप्राण की चर्चा करने की आवश्यक्ता नहीं है क्योंकि यह मुख्य पञ्च प्राण के अन्तर्भाव ही हैं । जैसे क्षुधा (भूख) के लिये अलग प्राण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि समान वायु पाचन क्रिया करती है और वह ही क्षुधा का कारण है ।

८७. एतत्प्राणादि ...

एतत् प्राणादि पञ्चकम आकाशा आदिगतरजोंशेभ्योमिलितेभ्य उत्पद्यते।।८७।।

यह प्राण सारी कर्मेन्द्रिय को शक्ति प्रदान करते हैं (क्रिया का कारण हैं) अतः यह सिद्ध होता है कि इनमें सारी तन्मात्रा के राजसिक अंश हैं । यह प्राण समष्टि (मिश्रित) राजोंश से बने हैं । कर्मेन्द्रिय अलग अलग (व्यस्तेभ्यः) रजोगुण से उत्पन्न होते हैं और प्राण मिश्रित (समस्तेभ्यः) रजोगुण से उत्पन्न होते हैं ।

प्राण एक ही होते है परन्तु उनके कार्य के अनुसार उनका भेद किया जाता है (जैसे अन्तःकरण एक ही है परन्तु कार्य के अनुसार विभाग होता है) । योग्यत्वात् एतेषां विभागः इति वर्णयन्ति वेदान्तिक संप्रदाय ।

इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति । अस्य क्रियामकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्।।८८।।

प्राण विकारत्वात् कोशवत् प्राणमय कोशः । इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणायाम से सारा सूक्ष्म और स्थूल शरीर नियन्त्रित होता है । प्राणमय कोश क्रिया का कारण हैं अतः यह रजोगुण का कार्य है ।

Active life = pranamaya kosha, emotional life = manomaya kosha, rational life = vigyanamaya kosha.

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः । मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः । प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः । योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति । एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।।८९।।

आनन्दमयकोश भोक्ता कारण शरीर है । विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्तिमान है और यह कर्ता है । capacity to desire is ichashakti is the instrument. Pranamaya has got power of action. Knowing, desiring, functioning. अन्नमय कोश आश्रय/आधार/अधिष्ठान है ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। (गीता 18/14)

अधिष्ठानं (अन्नमय कोश) इस आधार मे जानाति इच्छति यतते भुङ्क्ते । जैसे समाचार पत्र से पता चला कि आज शाम को नाटक है कहीं पर – जानाति । ततः इच्छा हुई उसको देखने की – इच्छति । जब सही समय आता है तो प्राणमय क्रिया करता है – यतते । जब यह सब अपना कार्य कर चुके तब यह शान्त हो जाते हैं और आनन्दमय कोश भोग करता है ।

इस प्रकार यह पञ्च कोश विधिवत् क्रम से कार्य करके हमको सुख दुखा आदि भोग में सहायता करते हैं ।

यह तीनों प्राणमनोविज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर के ही विभाग हैं कार्य के अनुसार । यह विभाग इसलिये किया जाता है कि हमको समझने में सुलभता हो । इसी प्रकार हर विषय में विभाग होते है in physics, chemistry, music etc.

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।।९०।।

अत्र अपि अखिल सूक्ष्म शरीरम् एक-बुद्धि-विषयतया वनवत् जलाशयवत् वा समष्टिः अनेक-बुद्धि-विषयतया वृक्षवत् जलवत् वा व्यष्टिः अपि भवति ।

एक बुद्धि – समष्टि रूप में जैसे वन और जलाशय और अनेक बुद्धि – व्यष्टि रूप में जैसे वृक्ष और जल ।

अब व्यष्टि और समष्टि सूक्ष्म शरीर प्रतिपादिक किया जा रहा है ताकि इनके द्वारा उपहित चैतन्त का प्रतिपादन किया जा सके ।

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।।९१।।

यहां समष्टि उपहितं की बात हो रही है ।

समष्टि उपहित चैतन्यं को कहते हैं –

- सूत्रात्मा – सर्वत्र अनुस्यूतत्वात् – जैसे सारे माला के मोती में धागा सूत्र अन्तरनिहित होता है उसी प्रकार समष्टि के माला में सारे व्यष्टि रूपी मोती है और चैतन्य उन सबका सूत्र (धागा) है । सूत्रे मणिगणा इव । Omnipresent.
- हिरण्यगर्भः – ज्ञान इच्छा शक्तिमत् सूक्ष्मशरीर उपहितत्वात् – हिरण्यं ज्ञानं गर्भे यस्य सः । Like gold it is ever fresh and shining within. Omniscient सर्वज्ञ (सारे ज्ञान का समस्त रूप). Because of omscience it has also got ichhashakti. Satya kaamaH satya sankalpaH. Looking at the angle of gyaana and ichha skati then he is known has Hiranyagarbha. Although he also has kriyashakti because he has got samashti sukshma shareer which includes pranamaya also. But we are looking here at angle of only 2 shakti.
- प्राणः – प्राण शक्तिमत् सूक्ष्म = omnipotent. क्रियाशक्तिदृष्ट्या । सारे प्राणी समष्टि प्राण के कारण जीवित हैं ।

अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽतएव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।।९२।।

अस्य (हिरण्यगर्भस्य सुत्रात्मणः प्राणस्य) एषा समष्टि ..

यहां समष्टि उपाधि की बात हो रही है ।

यहां समष्टि सूक्ष्म शरीर रूपी उपाधी के नाम बताये हैं –

- सूक्ष्मशरीर – स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण – यदि कारण शरीर की अपेक्षा देखेंगे तो स्थूल शरीर कहना चाहिये इसलिये यहां बताया गया है कि अन्नमयकोश की अपेक्षा देखना है और सूक्ष्मशरीर ही कहना है । यह आपेक्षिकम् (relative) है (आत्यन्तिकं (absolute) hota hai (just for knowledge))। आत्मा की अपेक्षा कारण शरीर स्थूल कहा जायेगा इसलिये कारण शरीर का सुक्ष्मत्व भी आपेक्षिकम् है।
- विज्ञानमयादि कोशत्रयं – समष्टि विज्ञानमय कोश, समष्टि मनोमय कोश और समष्टि प्राणमय कोश भी कहते हैं ।
- स्वपनः –समष्टि level पे- तीन कोश और जाग्रत् वासना मय होने के कारण । क्योंकि यह जाग्रत वासना (संस्कार) मय है । स्वप्न यहां अवस्था नहीं है उपाधि है ।
- स्थूलप्रपञ्चलयस्थान – स्थूल **प्रपञ्च** क्योंकि समष्टि की बात हो रही है इसलिये यह पूरे जगत् का लय स्थान है ।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्।।९३।।

यहां व्यष्टि उपहितं की बात हो रही है ।

व्यष्ति उपहितं चैतन्य को तैजस कहते हैं क्योंकि तेजोमय अन्तःकरण है । स्वप्न के समय वृत्ति को तेजोमय वृत्ति कहते हैं क्योंकि स्वप्नावस्था के समय स्वप्न प्रपञ्च का अनुभव होता है । इस समय किसी भी बाह्य प्रकाश का उपयोग नहीं करते हैं (जाग्रत आवस्था के समय सूर्य या बल्ब आदि के प्रकाश का प्रयोग करते हैं ज्ञान का माध्यम बनाने के लिये) कोई भी बाहरी प्रकाश यहां माध्यम नहीं होता है । स्वप्न के समय वृत्ति ही तेजोमय होती हैं । स्वप्नावस्था के समय मन न केवल तत्तदाकार वृत्ति का रूप लेता है बल्कि स्वयं प्रकाशमान भी होता है । जैसे स्वप्न में अगर कोई व्यक्ति जा रहा है तो वह अपने ऊपर एक बल्ब लेकर चलता है । स्वप्न के समय मन न केवल घटाकार वृत्ति का रूप लेता है बल्कि उस घट को प्रकाशित भी करता है । इसलिये बृहदारण्यक में स्वयं ब्राह्मण में स्वप्न का प्रयोग किया गया है आत्मा का प्रकाश सिद्धि करने के लिये । जाग्रत में कोई कह सकता है कि यह प्रकाश सूर्य या चन्द्र का होगा पर स्वप्न में यह सिद्ध करना सुलभ है ।

अतः तेजोमय अन्तःकरण वृत्ति ही सूक्ष्म शरीर है और तत् प्रतिबिम्बित चैतन्यं तैजसः इत्युच्यते ।

अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽतएव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।।९४।।

यहां व्यष्टि उपाधि की बात हो रही है । इसके नाम हैं –

- सूक्ष्म शरीर – आपेक्षिकं है तो यह भी बताना पड़ेगा कि किसकी अपेक्षा से –स्थूल शरीर की अपेक्षा से ।
- विज्ञानमयादिकोशत्रयं
- स्वप्नः-
- स्थूल **शरीर** लय स्थानं – स्थूल शरीर का लय स्थान है क्योंकि यहां व्यष्टि की दृष्टि है ।

अब आगे प्रमाण भी देना पड़ेगा कि किस श्रुति से यह प्रमाण है । अतः

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः "प्रविविक्तभुक्तेऐजसः "(माण्डू उ ३)इत्यदिश्रुतेः।।९५।।

तदानीं – स्वप्नावस्था में । मन वृत्ति के द्वारा सूक्ष्म विषयों को अनुभव करते हैं ।

प्रविविक्तभुक् (सूक्ष्मं भुक्ते इति) तैजसः (प्राज्ञ आनन्दभुक् था) ।

अब व्यष्टि और समष्टि के उपाधि और उपहित के स्तर पर ऐक्यं दिखाया जायेगा ।

अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्ना -काशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः।।९६।।

एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।।९७।।

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि।।९८।।

अब दो उत्पत्ति होंगी स्थूल भूत उत्पत्ति और स्थूल शरीर उत्पत्ति ।

पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान्पञ्चभागान्प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु योजनम्।।९९।।

सत्त्व प्रधान और रजःप्रधान का उपयोग हो चुका है यहां तमःप्रधान का प्रयोग हो रहा है । सतगुण और रजोगुण से सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म प्रपञ्च की उत्पत्ति हो चुकी है । यहां पर तमोंश से पञ्चीकरण हो रहा है इससे स्थूल भूत उत्पन्न होंगे ।

इसके बाद पञ्च अपि पञ्चात्मकं भवति । जो तन्मात्रा विशेष रूप से होती है उसके अनुसार नाम होता है । जैसे स्थूल आकाश में १/२ सूक्ष्म आकाश है इसलिये इस स्थूल भूत को आकाश कहा गया ।

पञ्चीकरणम् तु आकाशादि पञ्चसु एक एकम् द्विधा समम् विभज्य – आकाशादि के तमांश को एक एक करके दो दो बराबर भाग में विभाग किया जाता है ।

तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चाभागान् (पहले पांच भागों को) प्रत्येकं चतुर्धा समम् विभज्य (सबके चार बराबर भाग में बांटते हैं । अब सारे १/८ भाग है)

तदुक्तम् - "द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्चते।।"इति।।१००।

श्रुति में पञ्चीकरण नहीं दिया गया है इसलिये पञ्चदशी का प्रमाण लिया गया है । यदि पूर्वपक्ष बोले कि यह श्रुति प्रमाण तो है नही तो ग्रन्थकार कहता है ।

Ist stage each subtle element (eka ekam) is divide into half (dvidha vidyaya). One of each (prathamam) divide into 4 equal bits (chaturdha) punah. Then yojnat =svasva itara dvitiya amshai. Yojnat they panch panch (alloy) bhavati.

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात् ।।१०१।।

This has been elaborately analyzed in brahma sutra to figure out whether panchikaran is our imagination or shruti based. And in that what we have said is panchikarana does not have direct shruti support but indirect shruti support. There are many such things. For eg. adhyaasaH, we derive adhyasaah, as it is not directly indicated but shruti says "gyaanena davit nivrattih". Whatever is negated by gyaan has to be superimposition.

See Lecture 36 at 50:00 min for this further.

पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः " (ब्र सू २।४।२२) इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति।।१०२।।

यहां न्याय से अर्थ है ब्रह्मसूत्र का एक सूत्र । ब्रह्म सूत्र के हर सूत्र को न्याय कहते हैं क्योंकि हर सूत्र से some logic is obtained for some conclusion. That is why brahmsutra is called is often called न्याय प्रस्थानम् ।

गीत स्मृतिप्रस्थान है । उपनिषद् श्रुति प्रस्थान हैं ।

वादः = व्यपदेशः । व्यपदिश्यते अनेन इति व्यपदेशः । करणं व्युत्पत्तिः । व्यपदेश का अर्थ है नाम देना कि अब इसको हम इस नाम से पुकारेंगे (व्यप्दिश्यते) ।

१०३. तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते ...

तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥

अभिव्यज्यते = स्पष्टो भवति । अभिव्यक्तो भवति, दृष्टिगोचर (इन्द्रियगोचर) भवति प्रत्यक्षम् भवति दृश्यं भवति। अभिव्यक्त होते हैं । यह गुण सूक्ष्म तन्मात्रा में (भी थे) होते हैं परन्तु तब इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं सूक्ष्मत्वादेव । पञ्चीकरण के बाद यह गुण स्पष्ट हो जाते हैं अभिव्यक्त हो जाते हैं । देखते सुनने में आने लगते हैं । अनुभव में आने लगते हैं ।

तदानीम् = यदानीम पञ्चीकरणं भवति । हर भूत के गुण अभिव्यक्त होते हैं ।

आकासे शब्दः प्रतिध्वति रूपेण अभिव्यज्यते । वायौ शब्दस्पर्शौ अभिव्यज्येते । अग्नौ शब्दस्पर्शरूपाणि अभिव्यज्यन्ते । अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः अभिव्यज्यन्ते । पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः अभिव्यज्यन्ते ।

१०४. एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो ...

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येत-
न्नामकानामुपर्युपरिविद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गत-
चतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति।।१०४।।

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः भूतेभ्यः भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् इति एतत् नामकानाम् उपरि उपरि विद्यमानानाम् अतल वितल सुतल रसातल तलातल महातल पाताल नामकानाम् अधः अधः विद्यमानानाम् लोकानाम् ब्रह्माण्डस्य तद् अन्तर्गत चतुर्विधः स्थूल शरीराणाम् तद् उचितानाम् अन्नपानादीनाम् च उत्पत्तिः भवति ।

इन पञ्चीकृत स्थूल भूतों से ४ वस्तु उत्पन्न होती हैं –

- ब्रह्माण्डम्
- इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चतुर्दश भुवनानि – स्वः = सुवः = स्वर्गः । यहां उपरि-उपरि और अधः-अधःका अर्थ देश या आकाश (spatial) के अनुसार नहीं है । **पुण्याधिक्यात् गुणाधिक्यम् । गुणाधिक्यात् सुखाधिक्यम्** । उपरि उपरि का अर्थ है अधिक गुण/पुण्य/सुख हैं । पाताल सबसे नीचे है । उसमें सबसे अधिक पाप/दुर्गुण/दुःख है और बहुत थोड़ा लेशमात्र सुख होगा ।
- इन लोकों के (तद्) अन्तर्गत चतुर्विध स्थूल शरीराणि – इन लोकों (जो कि ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत) के अन्तर्गत ४ प्रकार के शरीर । यह शरीर आगे दिये जायेंगे ।
- चतुर्विध तद् (चतुर्विध शरीरम्) उचितम् अन्नम् – इन स्थूल शरीरों के अनुसार उनके लिये उचित अन्न पान आदि (खाना पानी आदि) – पचाम्यन्नं चतुर्विधम् । जैसे मनुष्यों मे हि अलग अलग अवस्था के लोगों के लिये अलग अलग अन्न उचित होता है । तद्तद् प्राणिदेह उचित । Even polar bear living in Antarctica has its own food.

चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यानि।।१०५।।

चतुर्विध स्थूल शरीर हैं – १. जरायुजम् २. अण्डजम् ३. स्वेदजम् ४. उद् भिज्जम् (आख्यानि) । यह सारे शरीर के विशेषण है न कि जीव के क्योंकि जीव अजम् है ब्रह्म है । शरीर जम् है । अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नस्संभवः । गीता ३/१४

जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि।।१०६।।

जरायु = गर्भ (कि झिल्ली) से उत्पन्न होने वाले । जैसे मनुष्य और पशु आदि ।

अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि।।१०७।।

अण्डे से उत्पन्न होने वाले जैसे पक्षि और सर्पादि । पद्भ्यां न गच्छति इति पन्नगम् । अतः उरगः (उरसा (शरीर के आगे से front) गच्छति इति) reptiles.

स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकमशकादीनि।।१०८।।

पसीने से उत्मन्न होने वाले जुआ और मच्छर आदि कीड़े ।

उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि।।१०९।।

भूमिम् उद्भिद्य जातानि । भूमि फोड़कर उत्पन्न होने वाले जैसे वृक्ष लता आदि ।

ग्रन्थकार चतुर्विध अन्नम के बारे में नही बताता है पर वह हैं –

- भक्ष्यम् which is bitten (masticated) and eaten
- भोज्यम् पेयम् which is drunk
- लेह्यम् which is licked like honey
- जोह्यम् that which is sucked like sugarcane etc, when you sip it becomes johyam

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।।११०।।

यह सब अध्यारोप अपवाद के लिये प्रतिपादित किया जा रहा है । कारण और सूक्ष्म प्रपञ्च के समष्टि और व्यष्टि दृष्टि थी वैसे हि यहां पर भी दो उपाधि हैं ।

यह सकल स्थूल शरीर (४ प्रकार के जरायुज् आदि) एक बुद्धि/दृष्टि से वन या जलाशय की भांति समष्टि है और वृक्ष या जल की अनेक बुद्धि/दृष्टि से व्यष्टि है ।

१११.

एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।।१११।।

स्थूल समष्टि उपाधि (चतुर्विध सकल (जरातुजादि)) उपहितं चैतन्यं के दो नाम बताये गये हैं । सोपाधिक चैतन्य के यह नाम हैं –

- वैश्वानरः – सर्वनर अभिमानित्वात् – सारे (विश्व = सर्व) नरों से तादात्मय (अभिमान) करने के कारण । विश्वेषाम् नराणाम् अभिमानत्वात् ।
- विराट – विविधं राजमानत्वात् – विविध (नाना) रूप से विराजमान (भासित/प्रकाशित) होने के कारण । राजते = प्रकाशते इति राट (जकारान्त पुल्लिंग) । Shines in all forms. Single human can appear in only human form. Single animal can appear in animal form whereas virat appears in all (manifold) forms । विश्वरूप दर्शन । वि = विविधं , राजते = प्रकाशते ।

112.

अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते।।११२।।

अस्य एषा समष्टिः स्थूलशरीरम् व्यपदिश्यते ।

विराडस्य (अस्य) इस (एषा) उपाधि (समष्टिः स्थूल शरीर) के यह नाम (व्यपदेशः) हैं –

- (विराट का) स्थूल शरीरम् – स्थूल भोगायतनत्वात् – यह स्थूल भोग का घर (आयतन) है । स्वप्न में स्वप्न स्थूल शरीर भोग करता है, वहां दूसरा आयतन होता है । पर यहां स्थूल भोग हो रहे हैं । it is abode of gross experiences, not dream experiences.
- अन्नमयकोशः – अन्न विकारत्वात् – it is modified form of अन्न । यह सृष्टि विराट का अन्नमय कोश है ।
- जाग्रत – waking यहां पर अवस्था नहीं है परन्तु शरीर को हि जाग्रत कहा है । जाग्रत के दो अर्थ है – १. जाग्रत अवस्था २. स्थूल शरीर । स्वप्न के भी दो अर्थ हैं – १. अवस्था २. सूक्ष्म शरीर

११३.

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्।।११३।।

अब व्यष्टि की दृष्टि से सोपाधिक चैतन्य के नाम बताया है – विश्व । विश्व का अर्थ है – 'संपूर्ण' । यहां विश्व इसलिये कहा है क्योंकि यहा चैतन्य तीनों (सारी/सकल/संपूर्ण) उपाधियों से तादात्म्य रखता है ।

कारण शरीर के द्वारा (through) ही कोई भी सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य कर सकता है । यदि कारण शरीर नहीं है तो आत्मा सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही आत्मा स्थूल शरीर से तादात्म्य कर सकता है । उसमें अभिमान कर सकता है । अतः कारण और सूक्ष्म शरीर को भेदता हुआ, उसमें प्रवेश करता हुआ, उसमें निहित होता हुआ ही आत्मा स्थूल शरीर में अभिमान (तादात्म्य) करता है ।

कारण शरीर का अभिमान त्यागे बिना आत्मा (जीव) सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता और सूक्ष्म शरीर का अभिमान त्यागे बिना स्थूल शरीर में प्रविष्ट नहीं हो सकता । अतः यह आत्मा सारे शरीरों से तादत्म्य रखने के कारण 'विश्वं' कहलाता है । यहां संपूर्ण अभिमान है । स्थूल शरीर में अभिमान रखने के कारण – स्थूल जगत् में भी अभिमान हो जाता है (स्थूल शरीर **आदि** प्रविष्टवात्) – जैसे पत्नि से तादत्म्य हो जाता है, पुत्र से तादात्म्य हो जाता है, शहर देश घर मोटरयान कपडे आदि सभी भौतिक वस्तुओं से अभिमान हो जाता है । इस प्रकार कार्य कारण भाव से सूक्ष्म और कारण शरीर में तादात्म्य implicit है और स्थूल शरीर में तादत्म्य होने के कारण भौतिक जगत् में (relatives, car, clothes, country, state, company job etc) तादात्म्य explicit है इसलिये सबमें तादात्म्य होने के कारण 'विश्वः' इत्युच्यते ।

स्वपनावस्था में स्थूल से तादत्मय समाप्त हो जाता है और केवल कारण और सूक्ष्म शरीर में अभिमान होता है । सुषुप्ति में केवल कारण शरीर में तादात्म्य होता है, सूक्ष्म और स्थूल शरीर से अभिमान समाप्त हो जाता है ।

During सुषुप्ति only बनियान. During स्वप्न, बनियान और शर्ट और जाग्रत के समय बनियान शर्ट और सूट तीनों होते हैं । सब कुछ होने के कारण 'विश्वं' कहलाता है ।

तैजस कारण शरीर द्वारा सूक्ष्म शरीर अभिमानी होता है अतः वह कारणशरीरद्वयं अभिमानी होता है । इस कारण से अज्ञान तैजस में भी होता है । विश्व कारणसूक्ष्माभिमान द्वारा स्थूल शरीर अभिमानी होता है । विश्व को कारणसूक्ष्मस्थूलशरीरत्रयं अभिमानं होता है । तैजस को कारणसूक्ष्मशरीरद्वयं अभिमान होता है । प्राज्ञ को केवल कारण शरीर अभिमान होता है । ज्ञानी (तूरीयं) को अनभिमान होता है ।

अगर आत्म का केवल स्थूल शरीर अभिमान होगा (वह विश्व की तरह काम करता है) या फिर अगर सूक्ष्म शरीर नहीं होगा तो मरण भी समझाया नहीं जा सकता । अगर आत्मा सीधे स्थूल शरीर से तादात्म्य करेगी तो कभी मृत्यु नहीं होगी क्योंकि गीता में दूसरे अध्याय में भगवान कहते हैं – "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" । आत्मा सर्वगतः है वह सबके अन्दर स्थित है । वह कभी diassociate नहीं हो पायेगी । वह मृत् शरीर मे भी है परन्तु सूक्ष्म शरीर के अभाव के कारण वह स्थूल शरीर से तादत्म्य करने में असमर्थ है अतः वह मृत्शरीर के अन्दर व्याप्त होने पर भी व्यक्त नहीं हो पाती है । अतः सूक्ष्म शरीर एक switch की तरह होता है । या फिर एक द्वार की तरह है जिसके द्वारा (अन्दर प्रविष्ट होकर ही) आत्मा स्थूल शरीर से तादत्म्य करती है । मरण काले सूक्ष्म शरीरम् अपगच्छति । यद्यपि आत्मा सर्वगत है परन्तु आत्मा स्थूल शरीर अभिमान नहीं कर सकती क्योंकि सूक्ष्म शरीर का द्वार नहीं रहा । द्वारस्य अभावात् मरणं भवति ।

शरीर त्रय अभिमान के कारण maximum expansion, therefore विश्वः ।

कार्यकारणबद्धौ तौ इष्येते विश्वतैजसौ । प्राज्ञः कारणबद्धस्तु दौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥ कारिका आगमप्रकरण/११

कार्यकारण बद्धः = कार्य अभिमानं (स्थूल सूक्ष्म शरीरं) । कारण (कारण शरीर) अभिमानं ।

११४.

अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते।।११४।।

अस्य (विश्वस्य) अपि एषा व्यष्टिः स्थूल उपाधि एवं उच्यते –

- स्थूल शरीरम् (विश्व का) –
- (व्यष्टि का) अन्नमय कोश – अन्न विकारत्वात्
- जाग्रत – यह एक अवस्था भी है और स्थूल शरीर का पर्यायवाची भी है । जाग्रत के अब दो अर्थ हो गये हैं । यह जाग्रत प्रपञ्च जो है वह विराट का जग्रत है (स्थूल प्रपञ्च है) ।

११५.

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्र-यमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादान-गमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैःक्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्य-हङ्कारचित्ताख्येनान्तरेन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान्स्थूलविषयाननुभवतः "जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः "(माण्डू उ ३) इत्यादिश्रुतेः।।११५।।

पदच्छेद – तदानीम् एतौ विश्व-वैश्वानरौ दिग्-वात्-अर्क-वरुण-अश्विभिः क्रमात् नियन्त्रितेन श्रोत्र-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धान् अग्नि-इन्द्र-उपेन्द्र-यम-प्रजापतिभिः क्रमात् नियन्त्रितेन वाग-आदि-इन्द्रिय-पञ्चकेन क्रमात् वचन-आदान-गमन-विसर्ग-आनन्दान् चन्द्र-चतुर्मुख-

शङ्कर-अच्युतैः क्रमात् नियन्त्रितेन मनो-बुद्धि-अहङ्कार-चित्त-आख्येन-अन्तर-इन्द्रिय-चतुष्केण क्रमात्-सङ्कल्प-निश्चय-अहङ्कार्य-चैत्तान्-च सर्वान् एतान् स्थूल विषयान् अनुभवतः ।

प्रमुख वाक्य है – तदानीम् एतौ विश्ववैश्वानरौ सर्वान् एतान् स्थूलविषयान् अनुभवतः । कैसे अनुभव करते हैं यह इस वाक्य में बताया है ।

जाग्रत जाग्रतावस्था में संसार/सृष्टि को अनुभव करता है । यहां इस वाक्य में सारे करण भी (तृतीया विभक्ति में) बताये गये हैं – ५ ज्ञानेन्द्रियैः ५-कर्मेन्द्रियैः ४-अन्तःकरणैः = १४ । एकोनविंशति मुखः (मा० उप०) में यह १४ + ५ प्राण भी आते हैं । हर करण के लिये यहां देवता भी बताये गये हैं क्योंकि इन देवताओं के बल से हि इन्द्रिय कार्य करती हैं । यह अधिष्ठान देवता हैं । यहां हर इन्द्रियों के विषय भी बताये गये हैं जो अनुभव किये जाते हैं । यह विश्व के विषय ही अनुभव किये जाते हैं इन्द्रियों के द्वारा ।

यहां विष्णु को उपेन्द्र कहा गया है । उनका एक नाम यह भी पड़ा जब वामन अवतार में वह इन्द्र के अनुज के रुप में जन्मे थे (उप-इन्द्रः = इन्द्रस्य अनुजः)।

यह तत्त्वबोध में भी दिया गया है ।

श्रोत्रं त्वक् चक्षू रसना घ्राणमिति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि ।

श्रोत्रस्य दिग्देवता । त्वचो वायुः । चक्षुषः सूर्यः । रसनाया वरुणः । घ्राणस्याश्विनौ । इति ज्ञानेन्द्रियदेवताः ।

श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणम् । त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणम् । चक्षुषो विषयो रूपग्रहणम् । रसनाया विषयो रसग्रहणम् । घ्राणस्य विषयो गन्धग्रहणमिति ॥१९॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थानीति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि ।

वाचो देवता वह्निः । हस्तयोरिन्द्रः । पादयोर्विष्णुः । पायोर्मृत्युः । उपस्थस्य प्रजापतिः । इति कर्मेन्द्रियदेवताः ।

वाचो विषयो भाषणम् । पाण्योर्विषयो वस्तुग्रहणम् । पादयोर्विषयो गमनम् । पायोर्विषयो मलत्यागः । उपस्थस्य विषय आनन्द इति ॥२०॥

मनसो देवता चन्द्रमाः । बुद्धेर्ब्रह्मा । अहंकारस्य रुद्रः । चित्तस्य वासुदेवः ॥१०॥

चारों अन्तःकरण के विषय है

- मन का विषय है संकल्प-विकल्प
- बुद्धि का विषय है निश्चय
- अहंकार का विषय है अहंकार्यम् । जिस किसी के साथ भी तादात्म्य किया जाता है उसको कहते हैं – अहंकार्यम् (object of identification)। यदि मेरा अहंकार गृह के साथ या पुत्र के साथ है तो गृह और पुत्र अहंकार्य हैं ।
- चित्त का विषय है चैत्तः । चित्त संबंधी चैत्त । कुछ भी जो याद किया जाता है उसको कहते हैं – चैत्तम् ।

अनुभव प्रमाण तो है हि पर यदि श्रुति प्रमाण चाहिये तो श्रुति प्रमाण भी दिया गया है ।

स्वप्न में भी कर्मेन्द्रिय होती हैं ज्ञानेन्द्रिय होती है तद्तद् विषय होते हैं उन विषयों का अभिमान भी होता है और उनके अनुभव भी होते हैं । तो अब प्रश्न यह है कि कैसे जाग्रत और स्वप्न में भेद करेंगे क्योंकि वहां भी एकोनविंशति मुख होते हैं ।

ऐसा कहते हैं कि स्वप्न में सारी इन्द्रिय वासनामय होती हैं । वहां पर मन विशेष इन्द्रियों का निर्माण करता है । यतः स्वप्न इन्द्रिय जीव मे मन के द्वारा निर्मित होती है इसलिये उनको यह देवता नियन्त्रित नहीं करते हैं । यह देवता केवल जाग्रत इन्द्रियों को नियन्त्रित करते हैं । तो इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न इन्द्रियों में भेद करते हैं । देवताधिष्ठित इन्द्रियैं जाग्रत अनुभवः । वासनामय इन्द्रियैः स्वप्नानुभवः ।

इसलिये ही ग्रन्थकार नें देवता को यहां बताया है (पूर्व में इन्द्रिय बताते समय नहीं बताया) क्योंकि यह देवता केवल जाग्रत इन्द्रिय को ही अधिष्ठित करते हैं ।

इस प्रकार इनका प्रतिपादन हो चुका है-

- समष्टि उपाधि

- समष्टि उपाधि विशिष्ट चैतन्यं – ईश्वरः
- व्यष्टि उपाधि
- व्यष्टि कारण सूक्ष्म शरीर उपहितं चैतन्यं – प्राज्ञः
- समष्टि सूक्ष्म शरीर उपाधि
- समष्टि सूक्ष्म शरीर उपहितं चैतन्य – हिरण्यगर्भः, सूत्रात्मा, प्राण
- व्यष्टि सूक्ष्म शरीर उपाधि
- व्यष्टि सूक्ष्म शरीर उपहितं चैतन्यं – तैजसः
- समष्टि स्थूल शरीर उपाधि
- समष्टि स्थूल शरीर उपहितं चैतन्यं – विराट, वैश्वानरः
- व्यष्टि स्थूल शरीर उपाधि
- व्यष्टि स्थूल शरीर उपहितं चैतन्यं - विश्वः

११६.

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तगतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः।।११६।।

उपाधि उपहित ऐक्य प्रतिपादन ।

११७.

एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः।।११७।।

११८.

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान्प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः।।११८।।

यहां पर समष्टियों कि समष्टि की बताई गई है । सारे व्यष्टि स्थूल शरीरों को मिलाकर समष्टि स्थूल प्रपञ्च बनता है । इस प्रकार सारे व्यष्टि सूक्ष्म शरीर को मिलाकर एक समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च बनता है और सारे व्यष्टि कारण शरीर को मिलाकर एक समष्टि कारण प्रपञ्च बनता है ।

इन समष्टि स्थूल प्रपञ्च, समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च और समष्टि कारण प्रपञ्च को मिलाकर 'महान् समष्टि' बनती है ।

जैसे कई वनों को मिलाकर एक समष्टि महद्वन बनता है । जैसे सारे राज्यों कि मिलाकर एक देश (समष्टि) बनता है और सारे देशों को मिलाकर एक द्वीप बनता है (जैसे एशिया, समष्टि की समष्टि) । यह अवच्छेदवाद का उदाहरण है ।

जैसे कई जलाशय को मिलाकर महान जलाशय बनता है । यह प्रतिबिम्बवाद का उदाहरण है ।

११९.

एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाश-वदवान्तर जलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।।११९।।

एतत् (समष्टित्रय) उपहितं वैश्वानर से ईश्वर पर्यन्त चैतन्य भी उसी प्रकार एक ही है जैसे कई वनों से अवच्छिन्न आकाश एक ही है । जैसे तीन वन हैं और उनसे अवच्छिन्न अकाश और उन तीनों को एक साथ लें तो उससे अवच्छिन्न आकाश एक ही है ।

१२०.

आभ्यां महाप्रपञ्चदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "(छान्द उ ३ । १४ । १) इति (महा) वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।।१२०।।

श्लोक ५० की टिप्पणी देखें ।

यह सारी चर्चा महावाक्य को समझाने के लिये यो रहे हैं इसलिये हमेशा उनका ध्यान रखना चाहिये । हमेशा 'तत्त्वमसि' मे 'तत्' पदम् और 'त्वम्' पदम् पे ही ध्यान होना चाहिये । इन दोनों अर्थों के अलावा सृष्टि में कुछ और नहीं है ।

यहां पर तीन वस्तु हैं –

1. महान प्रपञ्च (तीनों समष्टि उपाधि को मिलाकर) । महान उपाधि भी कह सकते हैं । यह मिथ्या है ।
2. इस महान प्रपञ्च में प्रतिबिम्बित चैतन्य (ईश्वर वैश्वानर और हिरण्यगर्भ को मिलाकर) । महासोपाधिक चैतन्यं कह सकते हैं । यह मिथ्या है ।
3. बिम्ब चैतन्य (निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य) । केवल यही मिथ्या नहीं है, सत्य है ।

कई बार वेदान्त में **ईश्वर** का प्रयोग केवल समष्टि कारण प्रपञ्च उपहित चैतन्य के लिये किया जाता है और कई बार महासोपाधिक चैतन्य के लिये भी किया जाता है ।

जब हम ईश्वर की पूजा मन्दिर में करते हैं, कर्मकाण्ड आदि में करते है, सहनाववतु आदि में और ईश्वर से अनुग्रह मांगते हैं तो 'महान सोपाधिक' चैतन्य की बात होती है । ईश्वर रचना करता है में 'ईश्वर' मिश्रित है ।

यह तीनों (निरुपाधिक चैतन्य, सोपाधिक चैतन्यं, उपाधि) को मिलाकर यहा 'तत्' पद **वाच्यार्थ** बताया है । जब हम ईश्वर को याद करते हैं तो वह इन तीनों का अध्यास/अविवेक के कारण मिश्रण होता है और उसे हम एक सत्ता समझते हैं । जैसे जब हम 'अहम्' कहते हैं तो मिश्रित करके एक व्यक्ति की बात करते हैं – सत्यं निरुपाधिकचैतन्यं और मिथ्या (सोपाधिक चैतन्य + उपाधि) । इसलिये हमेशा अध्यास में सत्य और मिथ्या का मिश्रण करके एक वस्तु समझी जाती है । अपि च 'अयम् सर्पः' में 'अयम्' का प्रयोग का अर्थ है कि हम एकवचन वस्तु की बात कर रहे हैं । वास्तव में इसमें अयम् से अर्थ है 'अधिष्ठान रज्जु अंश है' और सर्पः से अर्थ है – अध्यस्त सर्प अंश, जो कि मिथ्या है । अतः व्यक्ति सत्य रज्जु और मिथ्या सर्पः को मिलाकर देख रहा है । यदि वह दो वस्तु देख रहा होता तो यह कहता कि यहां अधिष्ठान रज्जु के ऊपर अध्यस्त सर्प है । यहां सामानाधिकरण्यं के कारण इदं और सर्प अंश का मिश्रण है । सत्य और मिथ्या का मिश्रण हो गया है । यह ही अविविक्तं है, मिश्रित है ।

यद्यपि ईश्वर में तीन भाग हैं परन्तु सामान्यतः लोग उसको मिलाकर एक देखते हैं जैसे तप्तपिण्ड की तरह । जब कोई कहता है जलता हुआ लोहा तो मतलब उसने मिश्रित कर दिया है क्योंकि लोहा जलता नहीं है यह अग्नि है जो जल रही है ।

महावाक्य में हमको वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों लेने पडते है क्योंकि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो ईश्वर और जीव का ऐक्यं असंभव है क्योंकि ईश्वर में समष्टि उपाधि है और जीव में व्यष्टि उपाधि है । अतः जीव-ईश्वर-एक्य सिद्धर्थं दो मिथ्या वस्तुओं को (उपाधि, सोपाधिक चैतन्य) अलग करना पड़ेगा । भागत्याग लक्षण । दो भागों को अलग करना है ।

जब यहां पर महान प्रपञ्च को और महान-प्रपञ्च-प्रतिबिम्बित-चैतन्य को मिथ्या कहा जाता है तो केवल निरुपाधिक चैतन्य शेष रह जाता है । भागत्याग लक्षणया दो को हटा दिया है तो जो एक 'निरुपाधिक चैतन्य' बचा है वह 'तत्' पद का **लक्ष्य-अर्थ** है ।

आभ्यां (द्विवचन क्योंकि महान उपाधि और उससे उपधित चैतन्य दो वस्तु हैं, यह दोनों मिथ्या हैं, ऊपर १ और २) महाप्रपञ्च (१) तद्-उपहितं चैतन्यं (२) तप्तायःपिण्डवद् अविविक्तं (मिश्रित) सत् (होने पर) अनुपहितं चैतन्य (३, निरुपाधिक चैतन्य) महावाक्यस्य का वाच्यार्थ है (१+२+३) और जब (बुद्धि द्वारा) विविक्त (३, {१+२} से अलग होता है) सत् (होने पर) लक्ष्यम (लक्ष्यार्थ) होता है ।

उपनिषद् कभी कभी वाच्यार्थ और कभी लक्ष्यार्थ का प्रयोग करता है । यहां पर एक उदाहरण दिया गया है । सर्वं खलु इदं ब्रह्म ।

१२२.

एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।।१२१।।

एवं वस्तुनि अवस्त्वा आरोपो

अब तक हमनें ईश्वर के द्वारा सामान्य अध्यास देखा अब आगे जीव के द्वारा किया गया विशेष अध्यास देखेंगे ।

वस्तुनि अवस्त्वारोपः आरोपः । अब प्राथमिक अध्यास समाप्त हुआ ।

यह सृष्टि – निरुपाधिक चैतन्य + समष्टि अज्ञानं = ईश्वर के द्वारा के द्वारा रचित हुई । समष्टि अज्ञान में आवरण शक्ति के कारण ईश्वर सर्ज्ञत्व और विक्षेप शक्ति के कारण सर्वशक्तिमत्व आदि हो जाता है क्योंकि वह विशुद्ध सत्त्व प्रधान है । उसके बाद ईश्वर विक्षेप शक्ति का प्रयोग करके सृष्टि की रचना करता है जो उसको नहीं मोहित करती है । इसलिये भगवान कृष्ण कहते हैं - प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य, विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम्, अवशं प्रकृतेर् वशात् । गीता।९.८। मैं प्रकृति (आवरण + विक्षेप) को प्रयोग करके .... । इसलिये इसको ईश्वर सृष्टि कहते हैं ।

ईश्वर को दोनों ज्ञान होते हैं –

1. यथार्थदृष्ट्या अहं ब्रह्मास्मि
2. समष्टि अज्ञान के साथ मैं सर्वज्ञ और सर्वेश्वर की तरह कार्य कर रहा हूँ परन्तु यह मेरा स्वरूप नहीं है। ईश्वर जानते हैं मेरा सर्वज्ञत्व उपाधि के कारण है, मेरा सर्वकर्तृत्व अज्ञान उपाधि के कारण है परन्तु स्वरूपतः – तस्य कर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारम् अव्ययम् ॥ इसलिये ईश्वर की दृष्टि से वह एक अभिनेता की तरह अपना पात्र निभा रहा है ।

प्राथमिक अध्यास, जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टि की रचना हुई । अब secondary अध्यास should come. आगे विशेष अध्यास भी आना चाहिये क्योंकि ईश्वर सृष्टि से संसार (जो कि हम अपने मन में रचते हैं) की रचना नहीं होती है । प्राथमिक सृष्टि संसार का कारण नहीं होती है । यदि ऐसा होता तो कोई जीवनमुक्त नहीं हो सकता है क्योंकि जीवनमुक्त के लिये भी तो ईश्वर सृष्टि होती है । अतः साधक को ईश्वर सृष्टि नष्ट नहीं करनी होती है न ही इससे भागना होता है क्योंकि यह ईश्वर सृष्टि बंधन का कारण नहीं होती है । इस ईश्वर सृष्टि से भागने की आवश्यक्ता नहीं है न ही हमेशा तुरीय में रहने की आवश्यक्ता है और न हीं हमेशा समाधि में रहने कि आवश्यक्ता है क्योंकि वेदान्त के अनुसार यह ईश्वर सृष्टि समस्या नहीं है । गीता कहती है - सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६/२९ ॥

अतः प्राथमिक अध्यास बंधन नहीं है । इसको सामान्य अध्यास कहा गया है यही ईश्वर सृष्टि भी कही जाती है । ईश्वर सृष्टि = सामान्य अध्यासः = प्रथमः अध्यासः ।

द्वितीय अध्यास बंधन का कारण है जो अब आगे बतायेंगें ।

१२२.

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते।।१२२।।

इदानीम् प्रत्यगात्मनि इदम् इदम् अयम् अयम् आरोपयति इति विशेषतः उच्यते ।

ईश्वर नें व्यष्टि सूक्ष्म और स्थूल शरीर की रचना की है । कारण शरीर अनादि है । Design, in the form of prarabdha karma, has been given by jeeva but the creation and material are done by Ishwar. That is why after gyaana these bodies don't disappear. These bodies belong to jeeva but are not created by jeeva.

प्राज्ञ = व्यष्टि अज्ञान उपहित चैतन्यं । व्यष्टि अज्ञान की भी आवरण और विक्षेप शक्ति होती है । यह व्यष्टि शक्तियां, समष्टि शक्तियों से गुण में निकृष्ट होती है क्योंकि वह शुद्ध सत्त्व (pure-knowledge) प्रधान है और यह मलिन सत्त्व (half-knowledge) प्रधान है । यह व्यष्टि-शक्ति समष्टि-शक्ति से परिमाण में भी निकृष्टा है क्योंकि वह समष्टि है ।

व्याष्टि आवरण शक्ति प्राज्ञ को अल्पज्ञ बना देती है अतः इसके बाद विक्षेप शक्ति का कार्य आरम्भ होता है ।

यह मेरी विक्षेप शक्ति मेरे कारण शरीर का निर्माण नहीं करती है क्योंकि वह तो अनादि है । यह मेरे सूक्ष्म शरीर का निर्माण नहीं करती क्योंकि वह तो ईश्वर द्वारा रचा हुआ है । यह मेरे स्थूल शरीर (देह) का निर्माण भी नहीं करती है क्योंकि वह भी ईश्वर द्वारा ही रचा हुआ है (यद्यपि मेरे प्रारब्ध के अनुसार ईश्वर नें रचा है) । फिर मेरी विक्षेप शक्ति क्या निर्माण करती है? वह देहात्मबुद्धि (अहं देहोऽस्मि इति वृत्ति, confusion) निर्माण करती है । आत्मा और अनात्मा में तादत्म्य करने की बुद्धि, इसको ही मोह कहते हैं । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । ५.१५ । विक्षेप से जनित जो संसार होता है वह प्रातिभासिक होता है । इसलिये ज्ञान से देहात्मबुद्धि मनात्मबुद्धि का नाश होता है पर देह और मन का नाश नहीं होता है । अहम् कृशः । अहम् भर्ता । अहम् भार्या । यह सब विशेष (द्वितीय) अध्यास है और जीव सृष्टि है । प्रथम (सामान्य) अध्यास ईश्वर सृष्टि है । अतः ज्ञान से हम केवल विशेष अध्यास का नाश करते हैं सामान्य अध्यास का नहीं तब जीवनमुक्त होता है । विदेह मुक्ति काले प्रथमः अध्यासः अपि गच्छति ।

एक और समस्या है – आत्मज्ञान से जीवसृष्टि (देहाभिमान) का नाश होता है परन्तु देह और प्रपञ्च (ईश्वरसृष्टि) का नाश नहीं होता है । अतः आत्मज्ञान होने के बाद भी जबतक देह और प्रपञ्च/जगत् (ईश्वरसृष्टि) रहेगा और प्रारब्ध भी रहेगा अर्थात द्वैत रहेगा अर्थात संसार भी रहेगा । अतः कथम् मोक्षः स्यात् । मोक्षसिद्ध्यर्थं ईश्वरस्य विक्षेपशक्तेः अपि अवसानम् अपेक्षितम् वा न वा इति प्रश्नः स्यात् ।

इसका उत्तर है – ईश्वर सृष्टि व्यावहारिक है अतः मिथ्या है (मिथ्या से लोग भागते हैं इसलिये व्यावहारिक इति शब्द का प्रयोग किया जाता है, अच्छा नाम देते हैं जैसे Mental Lunatic Center is called Mental health improvement center, it is euphemistic name) । 'व्यावहारिक सत्य' केवल विशिष्टादैतिन् और द्वैतिन् को सान्त्वना देने के लिये है लेकिन 'व्यावहारिक सत्य' का प्रयोग करते समय हम जानते हैं कि इसका अर्थ है 'मिथ्या' । यह मिथ्या प्रपञ्च और मिथ्या शरीर दोनों ईश्वर की विक्षेप शक्ति से बना है । मिथ्या प्रपञ्च मिथ्या है अतः वह द्वैत का निर्माण नहीं कर सकता । यद्यपि ईश्वर नें मिथ्या प्रपञ्च बनाया है पर जीव की विक्षेप शक्ति – मिथ्याप्रपञ्चे सत्यत्व बुद्धि का निर्माण कर देती है (यह जीव सृष्टि है) । हमारी विक्षेप शक्ति के कारण यह मिथ्या प्रपञ्च सत्य प्रतीत होने लगता है और उससे द्वैत का भान होने लगता है कि 'यह जगत् मुझसे भिन्न है और यह सत्य है और इससे द्वैत का निर्माण होता है और यह मुझे प्रभावित करता है' आदि आदि यह सब जीव सृष्टि है । अतः तत्त्वज्ञान के बाद मिथ्या प्रपञ्च का नाश नहीं होता है पर इस जीव सृष्टि का नाश हो जाता है । मिथ्या सृष्टि में मिथ्यत्व बुद्धि आ जाती है । यह जगत् सत्य है यह भी जीव सृष्टि होती है ।

इदम् जगत् मिथ्या । ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः इति शास्त्रप्रामाणेन जगतः मिथ्यात्वे सिद्धे सति जगति सत्यत्व बुद्धिः नष्टा स्यात् । जब सत्वत्व बुद्धि चली जायेगी तब भी मिथ्या प्रपञ्च रहेगा । सत्यत्व बुद्धि को निकालना ही बाधा कहते हैं । मिथ्या प्रपञ्चे सत्यत्व बुद्धिः नाशितम् परन्तु प्रपञ्चः बाधितः । देहे आत्म बुद्धि नाशितम् परन्तु देहः न नाशितः देहस्तु बाधितः । देह का और प्रपञ्च का निषेध हो जाता है । अतः यह कहते हैं कि देह और प्रपञ्च बाधित हो जाते हैं । अहंकार भी नाशित नहीं होता है परन्तु बाधित होता हैं नहीं तो ज्ञानी कोई भी व्यवहार नहीं कर पायेगा । यदि ज्ञानी हमेशा निर्विकल्प समाधि में रहेगा तो सम्प्रदाय ज्ञान आगे नहीं बढेगा । यदि ज्ञानी का अहंकार का नाश हो गया तो वह गुरु नहीं बन पायेगा और प्रवचन/शिक्षा आदि व्यवहार नहीं कर पायेगा । यदि अहंकार का नाश हो जायेगा तो जो शिक्षक होंगे वह अज्ञानी ही होंगे (क्योंकि ज्ञानी का तो अहंकार नाश हो गया है और वह शिक्षक बन नहीं सकता) तो भगवान भरोसे परम्परा होगी !! अतः अहंकारस्तु बाधितः ।

यत् यत् व्यवहार जगत तद् तद् बाधितं (मिथ्यारूपेण दृष्टः) यत् यत् प्रातिभासिकं तद् तद् नाशितं । व्यावहारिकः बाधितः प्रातिभासिकः नाशितः (जैसे स्वप्न का नाश होता है) ।

यह लिखो कि क्या बाधित होता है और क्या नाशित होता है??

सृष्टि या तो व्यावहारिक होती है या फिर प्रातिभासिक होती है । सृष्टि कभी भी पारमार्थिक नहीं हो सकती । प्रातिभासिक का अर्थ है मेरे द्वारा रचा हुआ जैसे संसार जो भासित हो रहा है पर है नहीं और व्यावहारिक का अर्थ होता है ईश्वर द्वारा रचा हुआ जैसे यह स्थूल प्रपञ्च स्थूल शरीरादि यह मेरी विक्षेप

शक्ति के द्वारा नहीं रचे हुये हैं, यह ईश्वर की विक्षेप शक्ति के द्वारा रचे हुये हैं इसलिये सबके व्यावहार के लिये उपलब्ध हैं, यह देह सबको दिखाई देती है, इसी प्रकार यह समस्त प्रपञ्च हर व्यक्ति को एक समान दिखाई देता है क्योंकि यह व्यावहारिक है ।

परमात्मनि = प्रथमः अध्यासः ।

इदानीम् = सामान्य अध्यारोप दर्शन अनन्तरम्

प्रत्यगात्मनि इदमिदम् (सारे कोश, प्राण, शरीर, संसार आदि संपूर्णावली, 'इदम्' शब्द स्वयं कहता है कि यह 'अहम्' नहीं है)

अयमयम् = दूसरे मतावलम्बी, चार्वाक, बौद्ध, मीमांसक, नैयायिका आदि

अयमयम् दार्शनिकः इदमिदम् अवस्तु आरोपयति इति विशेषतया उच्यते । व्यष्टि विक्षेप शक्ति से विभिन्न बुद्धि/दर्शन की सृष्टि कर लेते हैं ।

वह कौन हैं और उनके क्या मत हैं यह आगे बताया है । Who are they and what are their confusions? List of confusions are given next.

123.

अतिप्राकृतस्तु "आत्मा वै जायते पुत्रः "इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव पुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।।१२३।।

अति प्राकृतः worst case, bordering insanity, प्राकृतः = मूढ, यहां पर अतिमूढ बोला है क्योंकि 'प्राकृत' शब्द आगे देहात्म भाव वालों के लिये बचा के रखा है । देहात्म का तो अपनी देह में अभिमान होता है पर यहां तो अपनी देह से बहिः पुत्रादि में आत्माभिमान है । पुत्र में अभिमान है यह पञ्चकोश के भी अतीत है । पञ्चकोश में अभिमान वाले प्राकृत होते हैं । बाह्य प्रपञ्चे अभिमानः अतिप्राकृतः । शरीरे अभिमानः तु प्राकृतः अवस्था । आत्मनि अहं बुद्धि तु संस्कृत अवस्था ।

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम मन्यमानाः । जन्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनौव नीयमाना यथान्धाः। (मु० १.२.८)

You can't even show sympathy to them. You can't teach them. They are beyond.

पुत्रः आत्मा इति वदति । When excess attachment comes then intellect also gives logic to justify weakness. यहां पर भी अतिमूढ लोग श्रुति प्रमाण युक्ति प्रमाण और अनुभव प्रमाण तीनों देते हैं । आगे जाकर यह सिद्ध किया जायेगा कि यह प्रमाण नहीं है यह प्रमाण-आभास हैं ।

- श्रुति कहती है 'आत्मा वै जायते पुत्र' – आत्मा ही पुत्र रूप में जन्म लेता है । अतः मैं पुत्र हूं ।
- युक्ति है – यत्र यत्र प्रेमविषयत्वं तत्रतत्र आत्मत्वं । क्योंकि मनुष्य सबसे अधिक अपनी आत्मा से प्रेम करता है (आत्मा प्रिय विषयः) अतः जहां जहां प्रेम है वहां आत्मा है । पुत्रः आत्मा प्रेमविषयत्वात् । प्रेमदर्शनात्। People say I love him like myself, some mothers say more than myself. I love him as much as I love myself therefore he and I are same.
- अनुभव प्रमाण – पुत्रे पुष्टे अहं पुष्टः । जब बालक बढता है तो माता को लगता है जैसे वह बढ रही है इसी प्रकार रोग मृत्यु आदि में भी मातापिता को लगता है कि वह क्षीण हो रहे हैं ।

अतः पुत्रः आत्मा इदिवदति । इदम् बाह्य अध्यासम् उच्यते । अति प्राकृतः । पुत्र उदाहरण है इसकी जगह माता/पिता/पति आदि कोई भी हो सकता है ।

मनुस्मृति में लिखा है कि जाया (पत्नी) को जाया इसलिये कहते हैं क्योंकि 'अस्याम् पुनः जायते' पत्नि में पुनः जन्म होता है पति का ।

१२४.

चार्वाकस्तु "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः "(तै उ २ । १ । १ ") इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात् स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।।१२४।।

चार्वाकस्तु स्थूलशरीरं आत्मा इति वदति । चार्वाक मत वाले (ये प्राकृत होते हैं) भी श्रुति-युक्ति-अनुभव प्रमाण इस प्रकार देते हैं –

- श्रुति –
- युक्ति – स्वस्य स्थूलशरीरे प्रेम दर्शनात् । अब अतिप्राकृत भी बैठा है तो यह कहता है – स्वशरीर और पुत्रशरीर में चुनाव स्वशरीर का किया जाता है । यदि पुत्र में प्रेम होता तो विश्व के सारे पुत्रों में प्रेम होता परन्तु केवल एक पुत्र से इतना प्रेम क्यों है क्योंकि यह स्वशरीर अभिमान के कारण । स्वशरीर से ही पुत्र का जन्म हुआ है । जब पुत्र नहीं था तो स्वशरीर से ही प्रेम था । अतः स्वशरीर शेषी है (directly loved) और पुत्र शरीर शेषः है (indirectly loved) । If son is not loved through shareer then we will love all childrens. Therefore son is loved through body. Thus our body love is more than prema towards external world. This logic is important the example is crude (some person may act otherwise). प्रदीप्तगृहात् स्वपुत्रं परित्यज्य अपि स्वस्य निर्गम दर्शनात् ।
- अनुभव – अहं स्थूलः अहं कृशः इत्यादि अनुभात् –

वा = वै = Indeed, ascertaining

चार्वाक – materialistic philosopher

१२५.

अपरश्चार्वाकः "ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः " (छा उ ५।१। ७) इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात् काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चन्द्रियाण्यात्मेति वदति।।१२५।।

Another materialist who wants to improve the previous view. इन्द्रियाणि आत्म इति वदति । चर्चा के लिये हम इन्द्रियों को देह से अलग कर रहे हैं ।

- श्रुति – यह कल्पित कहानी है जिसमें प्राण सबसे उत्कृष्ट बताया गया है । सारी इन्द्रियों और प्राण में युद्ध होता है कि कौन श्रेष्ठ है । इन्द्रियां एक एक करके शरीर से बाहर जाती हैं तो कुछ नहीं होता परन्तु जब प्राण बाहर जाने लगते हैं तो सब इन्द्रियां मिलकर प्राणस्तुति करती हैं । इस समय ब्रह्मा umpire होते हैं । प्रजापतिं पितरं एत्य ऊचुः (addressed prajapati) । यह एक कल्पित कहानी हैं जिसमें इन्द्रियां और प्राण ब्रह्मा के पास जाकर उनसे बात करते हैं । अतः यह प्रमाण यह दिखाने के लिये दिया गया है कि इन्द्रियां और प्राण चेतन हैं क्योंकि अचेतन जाकर बात नहीं कर सकते । अब आत्मा को भी चेतन कहते हैं अतः यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियां ही आत्मा है ।
- युक्ति – इन्द्रियाणाम् अभावे शरीरचलन अभावात् । जब इन्द्रियां कार्य नहीं कर रही होती हैं तो व्यक्ति भी कार्य नहीं कर पाता है ।
- अनुभव – काणः अहं । बधिरोहम् । लोग यह कहते हैं कि मैं काणा हो गया हूं । कोई यह नही कहता है कि इन्द्रियां काणी हो गई हैं । अतः आत्म भाव है इन्द्रियों के साथ ।

यहां पर इसनें पूर्व मत को भी गलत सिद्ध कर दिया है । क्योंकि इन्द्रियां शरीर से उत्कृष्ट हैं । देह इन्द्रियों पर निर्भर है अतः इन्द्रियां ही आत्मा है।

१२६.

अपरश्चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः "(तै उ २।२।१) इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्यादि अनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।।१२६।।

अन्यस्तु चार्वाकः "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः "(तै उ २।३।१) इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।।१२७।।

१२८

बौद्धस्तु "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः "(तै उ २।४।१) इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति।।१२८।।

क्षणिक विज्ञानवादी कहते हैं इनको । ये बौद्ध के विभाग हैं । क्षणिक विज्ञानम् को ही विज्ञानमय कहते हैं क्योंकि हमारे अनुसार क्षणिक विज्ञान वृत्ति ज्ञान है और आत्मा स्वरूप ज्ञान है । यह लोग वृत्ति और स्वरूप ज्ञान में भेद नहीं जान पाते हैं । अतः वृत्ति ज्ञान को आत्मा मान लेते हैं । चिदाभास को आत्मा समझ लेते हैं ।

- श्रुति
- युक्ति – कर्तुः अभावे करणस्य शक्त्या अभावात् । He says mind is an internal equipment only (that we also agree) which is helping in sense perception. But he says I the atma am always present. What is the atma that is a different problem. Sense organs are all open (like eyes ears nose are open). If sense organs can directly produce knowledge then, since they are open all the time, while I am seeing I may not be smelling at the same time. So there must be some internal controller. His job is that when we concentrate on seeing the hearing get unplugged. When we concentrate on hearing then eyes are open but there is a blank look. Therefore between sense organ and eyes there must be another organ controlling, that is antah karana (manah) that is the controller of bahya karana. Therefore antah manah is only karana it is not atma the perceiver. Manah is called karan atma, annmaya and pranamaya is called kaaryaatma. Manomaya karanaatma. VIgyanamaya is kartamatma. Therefore atma is vigyanamaya. Karta ke abhaava me karana kaa abhava ho jaata hai atah kartaatma hi aatma hai. Instrument can never be subject.
- Anubhava – aham karta aham bhokta iti anubhavosti.

They say that buddhi is atma.

We say that vigyanamaya is karta and anandmaya is bhokta but they say that vigyanamaya is karta and bhokta both.

प्राभाकरतार्किकौ तु "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः "(तै उ २।५।१) इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्च अज्ञानमात्मेति वदतः।।१२९।।

ये अज्ञान (आनन्दमय, कारण शरीर, अविद्या) को आत्मा कहते हैं । प्राभाकर (ये प्रभाकर के द्वारा दिया गया था) पूर्वमींमासा का एक विभाग है । दूसरा विभाग है भाट्ट मत (कुमारिल भट्ट के द्वारा दिया गया) । तर्किक न्याय वाद या नैयायिक को कहते हैं ।

इनके अनुसार विज्ञानमय आदि चारों शरीरों का लय सुषुप्ति के समय आनन्मयकोश में हो जाता है । जिसका लय हो जाता है वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता अतः मेरा स्वरूप आनन्दमय कोश है । अज्ञाने लय दर्शनात् ।

अनुभव है – अहम् अज्ञः । अतः अज्ञानमात्मा ।

इनके (और तार्किक) के अनुसार आत्मा जड है द्रव्य है (it is matter) । Even modern science is telling that. They say that earlier it was matter and latter life came in cells and bacteria and so on. Therefore this means that fundamentally there was matter only. That means it will be there for sometime and when every this perishes life goes away and matter remains. This is experience also, when person dies, life goes away and matter remains.

They say when we wake up atma is matter and mind is another matter when these things join then consciousness comes. Like electricity +ve and –ve when joined electricity flows and later it goes away. आत्ममनस्संयोगेन ज्ञानम् जायते ।

यह बुद्धि-आत्म-वाद का खण्डन करते हैं । आनन्दमय आत्मा की सिद्धि करते हैं ।

१३०

भाटस्तु "प्रज्ञानघन एवानन्दमयः "(माण्डू उ ५) इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति।।१३०।।

सुषुप्तौ प्रकाश-अप्रकाश-सद्भावात् माम्-अहम् न जानामि इत्यादि अनुभवात् च आज्ञान उपहितं चैतन्यं आत्मा इति वदति ।

पूर्व मिंमासा का यह विभाग, भाट्ट मत, कुमारिल भट्ट के द्वारा दिया गया ।

यह कहते हैं कि अज्ञान उपहितं (इनके अनुसार सहित) चैतन्य आत्मा है । इनका अर्थ है अज्ञान सहित चैतन्य (मिश्रित) – आत्मा है । वेदान्त भी कुछ ऐसा ही कहता है परन्तु वेदान्त के अनुसार चैतन्य सत्य है और अज्ञान मिथ्या है । हमारे अनुसार यह संबंध सत्य नहीं है यह अधिष्ठान पे अध्यास का संबंध मिथ्या है । यहा भाट्टों के अनुसार चैतन्य भी सत् है अज्ञान भी सत् है और उनका संबंध भी सत् है । अतः इनके अनुसार चैतन्य जड मिश्रण आत्मा है, पुरुष प्रकृति मिश्रण, ज्ञान अज्ञान मिश्रण आत्मा है । वेदान्त के अनुसार शुद्ध केवल चैतन्य आत्मा है ।

- श्रुति – सुषुप्ति के समय अनुभव होता है कि हम जड हैं परन्तु श्रुति कहती है कि यह प्रज्ञानघन है अतः इन दोनों का मिश्रण ही आत्मा है ।
- युक्ति – सुषुप्ति में प्रकाश (चेतना) और अप्रकाश (चेतना का अभाव) का सद्भाव (दोनों भाव हैं) है । हम सुषुप्ति में कहते हैं कि हम कुछ नहीं जान पाये, संपूर्ण अप्रकाश था । परन्तु यह अप्रकाश का अनुभव (ज्ञान) तो हुआ अतः इस ज्ञान के होने के लिये कुछ चेतन होना चाहिये था । अप्रकाश का ज्ञान ही 'प्रकाश' है । अतः वहां चेतना भी थी । अतः अज्ञान भी है और ज्ञान भी होता है । अतः हम प्रकाशाप्रकाश स्वरूप हैं । जडचेतन स्वरूप हैं । ज्ञानाज्ञान स्वरूप हैं । खट्टामीठा स्वरूप हैं जैसे गुजरात में ।
- अनुभव – माम् अहम् न जानामि । जब हम यह कहते हैं कि हम अपना स्वरूप नहीं जानते तो यहां मिश्रण है । जड वस्तु कभी नहीं कहती है कि हमको अपना स्वरूप नहीं मालूम । जब हम कहते हैं कि हम अपना स्वरूप नहीं जानते तो यह वाक्य से पता चलता है कि चैतन्यं और अज्ञान से जडत्व पता चलता है ।

अतः जडात्म वाद का खण्डन हो गया ।

१३१

अपरो बौद्धः "असदेवेदमग्र आसीत् "(छा उ ६ । २ । १) इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।।१३१।।

दूसरे बौद्ध यह शून्यवादी (माध्यमिक) हैं । विज्ञानमय अध्यास में बौद्ध थे । उसके बाद प्राभाकरः तार्किक और भाट्ट आये जो बौद्ध नहीं हैं । यह कहते हैं शून्यम् आत्मा ।

सर्व अभावात् अहम् सुषुप्तौ न आसम् इति उत्थितस्य स्व अभाव परामर्श विषयानुभवात् च

बौद्ध वेद प्रमाण को नहीं मानते हैं यह नास्तिक वादी हैं । हमारे अनुसार नास्तिक वह होते हैं जो वेद में विश्वास नहीं करते हैं । फिर भी वह इसलिये श्रुति प्रमाण देते हैं क्योंकि हम वेद को मानते हैं और वह हमसे बात कर रहे हैं अतः कह रहे हैं कि तुम्हारे वेद भी यही कहते हैं । यह श्रुति प्रमाण हमारे लिये हैं ।

- असत् वा अग्रे आसीत (तैत्तिरीय उपनिषद्) भी यही कहता है । बृहदारण्यक में भी असत् शब्द आता है ।
- युक्ति – सुषुप्ति में सबका अभाव होता है अतः आत्मा भी नहीं है क्योंकि हम नहीं है अनुभव करने के लिये । अतः जग्रतावस्था में सुषुप्ति परोक्ष विषय है अतः inferential only. सुषुप्ति में सबका अभाव है । यह अनुमान है ।
- अनुभव – सुषुप्ति में हम नहीं थे यह उठने पर अनुभव होता है । यह अनुभव एक परामर्श (पूर्व अनुभव का संकेत, reference) है । परामर्श अभी कर रहे हैं पर यह संकेत कर रहा है पूर्व काल को । यह स्व-अभाव का परामर्श है । Present experience referring to past experience so this is a proof for non-existence in sushupti. WE say that it is not a reference because what we are referring at present must be experienced by us in the past. How can we refer to something which we have not experienced. या स्मृतिः सा अनुभवपूर्विका ।

१३२

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते।।१३२।।

एतेषां पुत्रादीनाम् अनात्मत्वम् उच्यते ।

अब सारे ९ अध्यास का खण्डन किया जायेगा । यह सारे मत में अनात्मा में आत्म बुद्धि है इनका खण्डन करने के बाद अनात्मा में मिथ्या बुद्धि आ जायेगी हमारे अन्दर । हम अन्नात्मा का खण्डन नहीं कर रहे हैं अपितु अनात्मा में आत्म बुद्धि का खण्डन कर रहे हैं । शरीरं न निषिध्यते अपितु शरीरे आत्मबुद्धि तु खण्डनं कुर्यात् ।

यह विशेष अध्यास का खण्डन है ।

अनात्मत्वम् उच्यते = अध्यारोपित आत्मत्वं निषिध्यते । इन मतों में अनात्मा के बारे में बताने जा रहे हैं अर्थात इन मतों के क्या कमियां हैं वह बताने जा रहे हैं अतः अध्यारोपित आत्मत्व (मिथ्या आत्मत्व बुद्धि) के बारे में बताने जा रहे हैं ।

अतः इसको अपवाद भी कह सकते हैं । कस्य अपवादः? न तु शरीरस्य अपवादः अपितु शरीरे आत्मत्व अपवादः ।

१३३

एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासै-रात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव।।१३३।।

एतैः अतिप्राकृतादिवादिभिः उक्तेषु श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासेषु पूर्व-पूर्व-उक्त श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासानाम् उत्तर-उत्तर श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासैः आत्मत्व बाध दर्शनात् पुत्रादीनाम् पुत्रादीनाम् अनात्मत्वम् स्पष्टम् एव ।

पुत्रादीनाम् (सब ९ में) अनात्मत्व स्पष्ट है क्योंकि पहले वाले मतों को दूसरे मतों वाले नें पहले ही खण्डित कर दिया है । जब एक विजेता आये जो सबको परास्त कर चुका है तो उसको ही खण्डित करके काम हो जायेगा । like in competitions it happens. पहले के श्रुति आभास को अगले श्रुति आभास नें खण्डित कर दिया है । इसी प्रकार पिछले युक्ति आभास को अगले युक्ति आभास नें खण्डित कर दिया है ।

बाधा = negated

यह श्रुति-युक्ति-अनुभव का आभास है क्योंकि यदि यह 'प्रमाण' होता तो कोई खण्डित नहीं कर सकता । आकाश नीला दिखता है यह अनुभव आभास है ।

134

किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव।।१३४।।

किञ्च प्रत्यग् अस्थूलः अचक्षुः अप्राणः अमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत् इत्यादि प्रबल श्रुति विरोधात् अस्य पुत्रादि शून्य पर्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादि-वत् अनित्यत्वात् अहं ब्रह्मा इति विद्वत्-अनुभव-प्राबल्यात्-च तत् तत् श्रुति युक्ति अनुभव आभासानाम् बाधित्वात् अपि पुत्रादि शून्य पर्यन्तम् अखिलम् अनात्मा एव ।

यहां वेदान्ती आत्मत्व को बाधित करेगा सारे मतों से । पहले अगले-अगले वाले नें पिछले पिछले वाले को खण्डित किया था । अब यहां हम सबका खण्डन करेंगे । क्योंकि जो दूसरे मत वाले नें पहले मत वाले का खण्डन किया था वह आभास से ही किया था (one wrong argument defeated previous wrong argument) so it is foul. Defeat is not complete so I will take them and defeat individually. We will defeat all with right argument. We will take shruti-yukti-anubhava not shruti-yukti-anubhava-abhaasa

Kincha = moreover (already negated but moreover)

पुत्रादि-शून्य-पर्यन्तम् अखिलम् अनात्मा एव । यहां पर बडे श्रुति मन्त्र नहीं दिये हैं पर relevant शब्द लिये है – प्रत्यग् अस्थूल अचक्षुः अप्राणः अमनाः अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सत् । यह ९ शब्द हैं जो एक एक करके ९ मतों को खण्डित करेंगें । यह सारे पुस्तक में दिये हैं -

1. प्रत्यग् = अन्तर में स्थित । प्रत्यगात्मा । पुत्रः बहिः परन्तु आत्मा तु प्रत्यग् अतः पुत्रः न आत्मा । कठोपनिषद् – कश्चित धीराः…. । बह्यः पुत्रः न आत्मा परन्तु आन्तरः एव आत्मा ।
2. अस्थूलः – बृ० उपनिषद में दिया है । अन्नमय आत्म वाद बाधित हो गया ।
3. अचक्षुः – इससे इन्द्रिय आत्म वाद का निषेध हो गया
4. अप्राणः
5. अमनाः – मनोमयात्मा का खण्डन हो गया
6. अकर्ता – विज्ञानमय आत्मवाद बाधित हो गया ।
7. चैतन्यं – आनन्दमय कोश आत्मवाद (जड) वाद बाधित हो गया ।
8. चिन्मात्रं – कैवल्य – भाट्ट मत बाधित हो गया क्योंकि मिश्रित नहीं है चित् मात्र केवल है
9. सत् – सत् एक सौम्यं… शून्य वाद बाधित हो गया

श्रुति से सारे ९ वाद बाधित हो गये । अब यह प्रश्न आ सकता है कि जो उन्होनें दिये वह भी तो श्रुतिमन्त्र ही थे । तो कहा गया है प्रबल-श्रुति-विरोधात् । जो हमनें दिये वह प्रबल वाक्य हैं जो उन्होंने दिये वह कमजोर हैं । लेकिन श्रुति वाक्य तो श्रुति वाक्य है ।

श्रुति में कई बार अनुन्धति न्याय से बात समझाई जाती है । इसमें बीच का वक्य लेकर और उसको अन्तिम प्रमाण समझलेना मूर्खता होगी । यह सारे की श्रुति वाक्य हैं परन्तु आत्मविद्या अति सूक्ष्म होने के कारण श्रुतियां आधिकारी भेद से आत्मा का ज्ञान कराने के लिये क्रमशः अन्दर की ओर ले जाती हैं । जिस प्रकार अरुन्धति न्याय में एक छोटे तारे को दिखाने के लिये बडे तारों से होते हुए ले जाते हैं उसी प्रकार पुत्रादि में आत्मभाव दिखाना आरम्भ कर क्रमशः प्रतयग् ले जाया जाता है ।

फिर इन वाक्यों में ये भी देखना चाहेये कि क्या श्रुति 'तात्पर्यतः' बात करी है अर्थात क्या यह मत ही सिद्ध किया जा रहा है या फिर यह क्रम की वजह से है । जैसे 'अन्योन्तर प्राणमयात्मा' में यदि श्रुति यही सिद्धान्त प्रतिपादित करना चाह रही होती और यहि अन्तिम निर्णय देना चाह रही होती तो तुरन्त

ही यह नहीं कहती कि 'अन्योन्तर आत्मा मनोमयः' जिससे कि पहले वाक्य का खण्डन हो गया । अतः यह श्रुति का अन्तिम निर्णय नहीं है । Therefore we know this is only stepping stone तत्र तात्पर्यम् नास्ति । अरुन्धतीन्याय में बीच के सोपान ही तात्पर्यम् नहीं होते हैं । अतः इनके श्रुति वाक्य में तात्पर्य नहीं है हमारे श्रुति वाक्यों में तात्पर्य हैं । अतः प्रबल श्रुति ।

युक्ति के अनुसार भी 'पुत्रादि शून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वात्' । घटवत् अनित्यत्वात् परन्तु आत्मा नित्यः। पर आत्मा किसने कहा कि आत्मा नित्य है हम आत्मा को नित्य समझते हैं अतः यह प्रमाणित कर रहे हैं पर आत्मा क्यों नित्य ही होगी? यदि आत्मा को अनित्य मान लें तो एक दोश आ जायेगा (पञ्चदशी में) – कृतहात् अकृत अभ्यागम् दोषः – If jeeva has got only temporary life that means I have got beginning only at the time of my birth, then the type of body and type janma will become accidental (like why I have got male body, why there are congenital diseases). Then the problem is that I have got results of something which I have not done which is a defect of the lord. Why a child has this disease – because of previous birth karmas, and then it has to be अनादि. We can never say beginning. If jeeva begins then for his first birth and type of body god will be responsible. Similarly if life ends with death then also there will be problem. Because why does he not reap the punya and paapa.

Next question is how do you prove that these are all anaatma. हेतु है 'अनात्वत्वम्' परन्तु यह कैसे सिद्ध होता है कि यह अनित्य है? हेत्वसिद्धम् शंक्यते । दृश्यत्वात् घटवत् सिद्धः।

पुत्रादि शून्य पर्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन = यह सब दृश्य है और सूक्ष्म या स्थूल पदार्थ हैं । अतः यह सब ज्ञेय हैं । जहां दृश्यत्व है वहां जडत्व है । Whatever is an object must be jada because knower only is chetna. Whatever is jada is anitya. Whatever is anitya is anaatma. आत्मा निश्चय ही चेतन दृष्टा होना चाहिये । अन्त में शून्य भी चेतना के द्वारा ज्ञेय हैं । अतः जो शून्य का ज्ञाता है वह ही आत्मा होना चाहिये ।

१३५

अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति वेदान्तविद्वदनुभवः।।१३५।।

अतः तत् तत् भासकं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभावं प्रत्यक्-चैतन्यम्-एव आत्मवस्तु इति वेदान्त-विद्वत् अनुभवः ।

अतः – कस्मात् - यस्मात् श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासः श्रुति-युक्ति-अनुभव-प्रामाणैः निषेधितत्वात् – इन सारे श्रुति-युक्ति-अनुभव-आभासों का श्रुति-युक्ति-अनुभव-प्रमाण से निषेध करने के बाद

तत् तत् (पुत्रादि-शून्यपर्यन्तं) भासकं – जो इन सबको भासित करता है और नित्य-शुद्ध- मुक्त-सत्य-स्वाभाव की है और अन्तर् निहित चेतना है वह ही आत्मवस्तु है (क्योंकि अध्यारोप में वस्तु और अवस्तु से शुरु किया था अतः वस्तु बताया है कि क्या है) ।

क्योंकि अज्ञानी शरीर में अभिमान रखता है इसलिये उसे बताया जाता है कि यह आत्मा शरीर के अन्दर (प्रत्यक्) है । परन्तु वास्तव में तो जो वस्तु अपने से भिन्न हो वह अन्दर या बाहर हो सकती है परन्तु हम स्वयं तो न अन्दर हैं और न ही बाहर हैं । अतः चैतन्य को अन्दर और बाहर नहीं बताया जा सकता है क्योंकि चैतन्य यदि हमसे अलग कोई वस्तु होती तो ही कह सकते थे कि वह हमारे अन्दर है परन्तु हम स्वयं ही चैतन्य हैं ।

अन्दर और बाहर हमेशा सापेक्ष होते हैं । यह अज्ञानी के लिये बताया जाता है जो कि श्रवण के समय 'मैं' को शरीर समझता है और शरीर को ही आत्मा समझता है ।

यही बात दशत्वम् असि वाली कहानी से बताया जाता है । जो अन्दर या बाहर ढूंढ रहा है वह स्वयं ही आत्मा है ।

नित्य – शाश्वत । शुद्ध – सारी मलिनता रहित । अज्ञान सबसे बड़ी मलिनता है उससे जनित पुण्यपाप दूसरी मलिनता है और पुण्पपाप जनित सुखदुःख तीसरे स्तर की मलिनता है । बुद्धम् – स्वयं प्रकाशः । मुक्त – सदा मुक्त है । ज्ञान से हमको मुक्ति नहीं मिलती है अपितु हमें यह पता चलता है कि मुक्ति

तो हमारा स्वरूप ही है । अतः पहले हमको लगता था कि हम बन्धन में थे अब हमको पता है कि हम मुक्त हैं । सत्यस्वभावं – त्रिकाले अपि तिष्ठति इति सत् ।

अब सारी अवस्तु को बाधित करने के बाद जो बचा है वह वस्तु है । यह वेदान्त विद्वान का अनुभव है ।

१३६. एवमध्यारोपः ॥

इस प्रकार अध्यारोप (superimposition) का संवाद समाप्त हुआ ।

हमें दो अध्यारोप बताये गये हैं । साधारण और विशेष अध्यास (अनात्मनि आत्म बुद्धि) ।

विशेष अध्यास का अपवाद भी बताया जा चुका है श्लोक १३२ में । अतः अब तक दो अध्यारोप और एक अपवाद भी बताया जा चुका है ।

जब विशेष अध्यारोप का विचार किया गया वह वास्तव में त्वम्-पद विचार ही था । क्योंकि सारे अनात्मा का निषेध करके जो बचता है वह ही त्वम्-पद का लक्ष्यार्थ है (नित्य-शुद्ध-बुद्ध-सत्यस्वभावं प्रत्यक चैतन्यं) ।

जब साधारण अध्यास (ईश्वर सृष्टि) का निषेध करेंगे तो वह तत्-पद विचार होगा ।

अब साधारण अध्यास का अपवाद प्रकरण शुरु होगा ।

१३७.

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।।१३७।।

अपवादो नाम रज्जु-विवर्तस्य सर्पस्य रज्जु-मात्रत्ववत् वस्तु-विवर्तस्य-अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् ॥

यह अपवाद की सटीक परिभाषा है । अब तक अपवाद बताया जाता है कि निषेध करना परन्तु यहां एक समस्या है – कोई कहेगा कि निषेधस्य विषयो वक्तव्यः – क्या उसका निषेध कर रहे हैं जो है या फिर उसका जो नहीं है? क्योंकि जो है उसका निषेध संभव नहीं है और जो वस्तु नहीं है उसका निषेध आवश्यक/अपेक्षित नहीं है । यदि जो वस्तु नहीं है उसका निषेध कर रहे हैं इसका अर्थ है कि उसके आस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं । इसलिये गौणपादाचार्य नें माण्डूक्य कारिका में कहा है – प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः । मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

यदि प्रपञ्च होता तो उसका निषेध किया जाता । यदि सर्प होता तो उसका निषेध किया जाता परन्तु सर्प है हि नहीं वह तो कल्पना मात्र है । रज्जु को सर्प की भांति देखा जा रहा है अतः हमें केवल यह करना है कि रज्जु को रज्जु की भांति देखना है । क्योंकि यदि यह कहा जाए कि सर्प का निषेध हो गया है तो उसका अर्थ यह होगा कि सर्प था अतः प्रश्न आयेगा कि निषेध के बाद सर्प कहां चला गया आदि आदि। ऐसे ही प्रश्न आते हैं कि जब ज्ञान हो जाता है तो संचित कर्म का क्या होता है? अतः यहां किसी का निषेध नहीं हुआ है । जब मिथ्या वस्तु के निषेध की बात करेंगे तो यह सोंचा जा सकता है कि मिथ्या वस्तु थी और उसका निषेध किया गया है ।

लोग यह प्रश्न भी पूछते हैं कि जब सबको मुक्ति मिल जायेगी तो यहां संसार में कोई जीव नहीं रह जायेगा तो सृष्टि का क्या होगा? भगवान तो बेरोजगार हो जायेंगे? अतः वेदान्त में इन प्रश्नों का युक्ति पूर्ण उत्तर नहीं दिया जाता है । न तो वेदान्त सृष्टि कि उत्पत्ति के बारे में और न ही सृष्टि के अन्त के बारे में युक्ति पूर्ण उत्तर देता है क्योंकि युक्ति पूर्ण उत्तर देने का अर्थ है कि सृष्टि के आस्तित्व को स्वीकार करना अतः यह प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहिये । Logical answer cannot be given since very idea is based on snake is existent therefore logical answers cannot be given because questions are illogical. यह प्रश्न इस प्रकार के हुए कि सर्प का क्या होता या फिर सर्प कैसे गायब हो जायेगा या फिर सर्प का अन्त कैसे होगा आदि आदि । अध्यारोप सृष्टि का आदि नहीं है और अपवाद सृष्टि का अन्त नहीं है । अध्यारोप-अपवाद और कुछ नहीं अपितु यह समझने के लिये है कि ब्रह्म ही था ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही होगा अतः सृष्टि के ऊपर प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिये ।

जगतः ब्रह्म रूपेण दृष्टि इति ज्ञानम् अपवादः इति उच्यते ।

यहां पर परिभाषा दी गई है कि रज्जु को रज्जु देखना हि अपवाद/निषेध है । रज्जोः रज्जुत्व दर्शनं एव सर्पस्य निषेधः । अधिष्ठानस्य अधिष्ठानत्व दर्शनमेव निषेधः । रज्जु को रज्जु देखना ही अपवाद या निषेध है । ब्रह्म को ब्रह्म देखना ही जगत् का निषेध है ।

यहां इसलिये ही 'निषेध' शब्द का प्रयोग नहीं किया है ।

रज्जु विवर्तः सर्पः = Rope which is falsely taken as snake or false modification of rope. When I say rope then snake buddhi is there, that snake. रज्जु जिसको कल्पित सर्प की तरह देखा जा रहा है । इस समय रज्जुत्व बुद्धि नहीं है अपितु सर्प बुद्धि है ।

रज्जु-मात्रत्ववत् – केवल रज्जु की तरह देखना । मात्र इसलिये बोला है क्योंकि रज्जु केवल ही था पर अज्ञान के कारण सर्प दिखाई पड रहा था । अब दो हैं वस्तु और अवस्तु दोनों था । ज्ञानकाले वस्तु मात्रम् । क्योंकि अज्ञान के समय वस्तु नहीं होती तो वस्तु सत् नहीं होगा क्योंकि देश काल सीमा हो जाती।

अज्ञानकाले वस्तु अवस्तु च ज्ञानकाले वस्तु एव ।

अध्यारोप है रज्जु को सर्प की भांति देखना, ब्रह्म को जगत् की तरह देखना और अपवाद है सर्प को रज्जु देखना और जगत् को ब्रह्म देखना (सर्वं खलु इदम् ब्रह्म) ।

वस्तु विवर्तस्य अवस्तुनः । वस्तु विवर्त ही अवस्तु है । ब्रह्म विवर्त जगत् है । यह जगत् अज्ञानादेः (कार्य) है । कार्य का निषेध होता है तो कारण का करणत्व भी निषेध हो जाता है । जैसे रज्जु कारण है सर्प का तो अब सर्प कार्य की तरह दिखने लगा और इस कार्य की वजह से रज्जु को कारणत्व का दर्जा भी मिल गया । तो कार्य और कारण (अतः कारणत्व) दोनों अध्यारोपित हैं । अतः कार्य का निषेध किया जाता है फिर कारण का निषेध किया जाता है तो कारणत्व का निषेध हो जाता है फिर केवल कार्यकारणविलक्षण ब्रह्म रह जाता है ।

अतः ब्रह्मन् को कारणत्व का ईश्वरत्व अधिष्ठानत्व का दर्जा जो दिया है यह अध्यारोपित है । सबसे पहले जगत् का निषेध किया तो ब्रह्म कारण नहीं रह गया । कार्य अभावे कारणत्वं कथम? ईषितव्य अभावे ईश्वरत्वं कथम्? अध्यास अभावे अधिष्ठानत्व कथम्? तस्मात् ईशितव्य ईश्वर विलक्षण कार्य कारण विलक्षण अध्यास अधिष्ठान विलक्षण ब्रह्म मात्र अवशिष्यते । ब्रह्म मात्र अवशेष इति अपवाद उच्यते ।

शंकराचार्य अपरोक्षानिभूति में कहते हैं – कार्येहि कारणं पश्येत पश्चान कार्यं विसर्जयेत । कारणत्वं ततो नश्येत अवशिष्टं भवेत्मुनिः ॥

See the clay in pot. Dismiss the pot. Then dismiss the कारणत्वं status of clay then कार्य कारण विलक्षणः clay only remains.

अध्यारोपापवाद के बाद केवल हम बचते हैं (ब्रह्म के बचने की प्रतीक्षा नहीं करनी है) । अहं ब्रहमास्मि ।

यह परिभाषा केवल वेदान्तसार में ही है और जगह अवस्तु निषेध को अपवाद कह कर परिभाषित करते हैं ।

यहां विवर्त शब्द का प्रयोग किया है जो आगे बताया है ।

१३८.

तदुक्तम् - "सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः । अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।।"इति ॥

तदुक्तम् = तस्मिन अर्थे (पूर्वोक्त विवर्त अर्थे) । विकार = परिणाम । प्रथा = ज्ञानम, अनुभवः, appearing, experience प्रथनं प्रथा ।

अन्यथा प्रथा = दूसरी (अन्यथा/दूसरे रूप में) अनुभव होता है (जैसे दूध अब दहि के रूप में अनुभव में आता है) । सतत्वतः = really, by real modification. उदीरतः = हमारे संप्रदाय में कहा गया है । appearing differently by real modification.

अतत्वतः = मिथ्या/कल्पित/प्रतिभासित विकार के कारण ।

परिणाम तब कहते हैं जब कारण में विकार हो जाता है । जैसे दूध से दधि बन जाता है तो दूध परिणाम-उपादान कारण है । दुग्ध परिणाम कारण है और दधि परिणाम कार्य है । इसमें कार्य और कारण दोनों की समान सत्ता होती है । जैसे दुग्ध और दधि दोनों सत्य हैं । यहां कारण स्वस्वरूप का परित्याग करके रूपान्तर हो जाता है । जब कारण स्वयं बदलकर कार्य रूप में उपस्थित हो जाता है तो उस कार्य को कारण का विकार कहते हैं जैसे दूध स्वयं विकृत होकार दही बना है । दही बन जाने पर दूध नहीं रह गया है ।

विवर्तवाद में रज्जु-सर्प का उदाहरण है । इसमें कारण से कार्य उत्पन्न होता (प्रतीत होता है) है पर कारण का स्वस्वरूप का परित्याग नहीं होता है । यहां रज्जु की सत्ता का नाश नहीं होता है और उसका रूपान्तर भी नहीं होता है । जब कारण यथावत रहते हुए किसी काल्पनिक कार्य की उत्पत्ति होती है तो उस कार्य को कारण का विवर्त कहते हैं । रस्सी स्वयं सर्प नहीं है फिर भी सर्प की प्रतीती होती है । यहां रज्जु विवर्त कारण है । मृगतृष्णा सर्प स्वप्न आदि विवर्त कार्य है । इसलिये सर्प को रज्जु-विवर्त-सर्पः कहते हैं ।

जब कभी विवर्त होता है तो कार्यकारणयोः भिन्न सत्ता विवर्ते । अतः यदि कारण व्यावहारिक है तो कार्य प्रातिभासिक होगा । यदि कार्य व्यावहारिक है तो कारण पारमार्थिक होगा । कार्य कभी भी पारमार्थिक नहीं हो सकता कार्यत्वात् (स्वप्नवत्) ।

१३९.

तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।।१३९।।

तथाहि एतद् भोगायतनम् चतुर्विध-सकल-स्थूल-शरीर-जातम् भोग्यरूप-अन्न-पानादिकम् एतद्-आयतन-भूत भूः-आदि चतुर्दश-भुवनानि एतद्-आयतन-भूतम् ब्रहाण्डम् च एतद् सर्वम् एतेषाम् कारणरूपम् पञ्चीकृत-भूतमात्रम् भवति ।

अब यह बताते हैं कि अवपाद कैसे करना है । कारणस्य कारणमात्र अवशेषः अपवादः । सबका निषेध करते जाना है (नेति-नेति) जब तक निषेध हो सकता है फिर अन्त में जो बच जायेगा वह स्वयं मेरा स्वरूप होगा जो अब तक निषेध कर रहा था । यह रीति है ।

पूरे जगत् और ब्रह्माण्ड का एक साथ निषेध करने के बजाय यहां क्रमशः निषेध किया जा रहा है क्योंकि अध्यारोप भी क्रमशः किया गया था । यदि अध्यरोप क्रम में है तो अपवाद व्युत्क्रम में होगा (reverse order) ।

१. एतद् भोगायतनं चतुर्विध (अण्डज-जरायुज आदि) सकल स्थूल शरीर जातं (सारे ४ प्रकार के स्थूल शरीर)
२. भोग्यरूप अन्न पानादिकम् (खाना पानी जिनका हम भोग करते हैं)
३. एतद् आयतनभूत (इनके (शरीर और अन्नपानादि के) रहने के स्थान जोकि) भूः आदि १४ भुवनानि
४. एतद् आयतनभूतम् ब्रह्माण्डम् (१४ लोक के जो आयतन ब्रह्माण्ड है)

यह सब पञ्चीकृत भूत मात्र (कार्य) ही हैं । यह पहला क्रम है ।

तो अब इन सबका निषेध कर दिया है और केवल 'पञ्चीकृत भूत' मात्र बचा है । निषेध का अर्थ कोई physical नहीं है (सबको हथौड़ा मार कर वापस पञ्चभूत में नहीं बदला जा रहा है) । अपवाद के समझना है कुछ बदलता नहिं है just intellectual understanding. सारी सृष्टि केवल पञ्चभूत है केवल नामरूप का भेद है । नामधेय व्यवहार के लिये जरूरी है अतः व्यवहार वैसे ही चलने दो बस इतना याद रखो कि यह व्यवहार के लिये ही है ।

अतः साधारण अध्यास (ईश्वर सृष्टि) को केवल समझ से ही हटाया जा सकता है । कुछ बदलेगा नहीं । इसके विपरीत स्वप्न देखने बाद जागते हैं और यह ज्ञान होता है कि हम जागृत हैं तो स्वप्न जगत् अदृश्य हो जाता है । लेकिन जागृत अवस्था में व्यावहारिक प्रपञ्च नाश नहीं होगा केवल व्यावहारिक प्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि का नाश हो जायेगा ।

यहां पर ही मरण भय चला जाता है अगर शरीर को पञ्चभूत मान लें ।

यह माण्डूक्त उपनिषद् का प्रथम पाद है ।

१४०

एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।।१४०।।

सूक्ष्मभूत से – स्थूलभूत, सूक्ष्मशरीर और सूक्ष्म प्रपञ्च बनते हैं । यह सब सूक्ष्मभूत में लय हो जाते हैं ।

१. एतानि पञ्चीकृतभूतानि (सूक्ष्मभूतानि) अपने-अपने गुण के साथ (शब्दादि विषय सहितानि)
२. सूक्ष्म शरीर जातं (समूहम्) च

एतद् सर्वम एतेषां कारण रूप अपञ्चीकृत तन्मात्रा ही रह जाते हैं ।

हम वास्तव में गुण ही देखते हैं जैसे जब मेज को देखते हैं तो मेज के तत्त्व को नहीं देखते हैं केवल एक रूप को देखते हैं । अतः हम केवल गुण को ही देखते हैं अतः यह जो गुण हैं वह ही इन्द्रियों के विषय हैं ।

सारा संसार में कोई तत्त्व नहीं है – असारे खलु संसारे – संसार में कोई सार नहीं है । फिर प्रश्न हैं कि यदि को substance नहीं है तो गुण कहां से आये । Substance केवल एक है और वह हैं हम जिसमें सारा संसार दिखता है जो कि (मिथ्या) गुण हैं ।

यह माण्डूक्त उपनिषद् का द्वितीय पाद है ।

१४१.

एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्ति- व्युत्क्रमेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति।।१४१।।

एतानि सत्त्व आदि गुण सहितानि अपञ्चीकृतानि उत्पत्ति व्युत्क्रमेण एतत् कारणभूत अज्ञान-उपहित-चैतन्य मात्रं भवति ।

सारे अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत अपने कारण में प्रकृति/अव्यक्तं/माया/कारणब्रह्म/ईश्वर में लय होते हैं । अज्ञान विषिष्ट चैतन्य में ।

गीता में – प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ गीता १३.१९ ॥

ब्रह्माश्रिता माया = प्रकृति-पुरुष का मिश्रण = अज्ञान उपहित चैतन्य ।

उत्पत्ति व्युत्क्रमेण = सृष्टि के उलटे क्रम में ।

यह माण्डूक्त उपनिषद् का तृतीय पाद है ।

१४२.

एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधार- भूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।।१४२।।

एतद् अज्ञानम् अज्ञान-उपहित-चैतन्यम् च ईश्वरादिकम् एतद् आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूपम् तुरीयम् ब्रह्ममात्रं भवति ।

यह माण्डूक्य उपनिषद् का चतुर्थ पाद है ।

प्रकृति का लय होना है, माया कारण प्रपञ्च, अज्ञान, अव्यक्त आदि जिसके नाम हैं । इसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं ।

अब तक केवल उपाधि का लय हुआ है अब सोपाधिक चैतन्य का भी लय होगा ।

यह अज्ञान और अज्ञान-उपहित-चैतन्य ईश्वर आदि (सारे ६ सोपाधिक चैतन्य – ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट, प्राज्ञ, तैजस, विश्वं) – इनके आधारभूत अनुपहितचैतन्य (बिम्बचैतन्यं) में लय हो जाते हैं अतः तुरीय ब्रह्म मात्र भवति ।

हम ईश्वर सृष्टि के बारे में कुछ करते नहीं है केवल उसको समझकर उसका निषेध करते हैं ।

ब्रह्मव्यतिरिक्तं जगत् नास्ति इति ज्ञानमेव अवपादः ।

कोई प्रश्न करे कि – यदि ब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं है तो हमको क्यों यह नाना प्रकार का जगत् दिखता है – तो उससे प्रश्न करो कि यदि मृत्तिका के अलावा घट कुछ भी नहीं है तो घट क्यों दिखता है अथवा यदि स्वर्ण के अलावा आभूषण नहीं है तो आभूषण क्यों दिखता है? उत्तर है – वाचारम्भणम् विकरो नामधेयम् । घट केवल एक नाम रुप है जिसको हम अनुभव कर रहे हैं घट नाम का कोई पदार्थ नहीं है । जैसे सागर और नदी यह नामरूप हैं वास्तव में सब कुछ जल ही है अतः सागर और नदी नाम की कोई वस्तु नहीं है । There is no substance named pot or there is no substance named jewellery the substance is gold and clay, we are just experiencing a form and name associated with that form. Clay and Gold alone are substance.

Understanding that clay alone is the substance is called अपवाद of pot. You need not destroy the pot you can hold the pot you can keep the pot you can enjoy the cool water of pot. Even while holding the pot you can do apavaada by knowing that substance is clay.

ईश्वर सृष्टि अपोधितं कथम्? किस प्रकार ईश्वर सृष्टि का अपवाद होता है – यह जानकर की ईश्वर सृष्टि नामरूप है उसका तत्त्व केवल ब्रह्म है । ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ईश्वर सृष्टि का निषेध **तत्-पदम्-शोधनम् (विचार)** कहलाता है ।

अपवाद is wisdom. अपवाद से हमें ब्रह्म का ज्ञान होता है ।

दूसरा अध्यारोप है जीव सृष्टि । ईश्वरसृष्टशरीरे अहम् इति बुद्धिः । शरीर ईश्वर सृष्टि है पर उस शरीर में आत्म बुद्धि जीव सृष्टि है । इस सृष्टि का अपवाद कैसे होता है । आत्म-अनात्म विवेकेन । यहां 'आत्म बुद्धि' का निषेध होता है । जब जीव सृष्टि का निषेध होता है तब शुद्ध चैतन्य (I) बचता है । जब विशेष (secondary) अध्यास/जीवसृष्टि का निषेध किया जाता है तो इसको कहते हैं **त्वम्-पदार्थ शोधनम्** ।

जब तत्-पद-विचार करते हैं तो केवल शुद्ध चैतन्य तुरीय बचता है । जब त्वम्-पद-विचार करते हैं तो केवल शुद्ध चैतन्य तुरीय बचता है । अतः तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ समझ में आता है । अहम् जो यहां अधिष्ठान है और जो ईश्वर का अधिष्ठान है – अयम् आत्मा ब्रह्म । प्रज्ञानं ब्रह्म । विज्ञान आनन्दं ब्रह्म ।

१४३.

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति।।१४३।।

दो प्रकार के अध्यारोप हैं अतः दो प्रकार के अपवाद हैं । इसलिये पद द्विवचन में हैं ।

किस प्रकार ईश्वर सृष्टि का अपवाद होता है – यह जानकर की ईश्वर सृष्टि नामरूप है उसका तत्त्व केवल ब्रह्म है । ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ईश्वर सृष्टि का निषेध तत्-पदम्-शोधनम् (विचार) कहलाता है । दूसरा अध्यारोप है जीव सृष्टि । ईश्वरसृष्टशरीरे अहम् इति बुद्धिः । शरीर ईश्वर सृष्टि है पर उस शरीर में आत्म बुद्धि जीव सृष्टि है । इस सृष्टि का अपवाद कैसे होता है । आत्म-अनात्म विवेकेन । यहां 'आत्म बुद्धि' का निषेध होता है । जब जीव सृष्टि का निषेध होता है तब शुद्ध चैतन्य (I) बचता है । जब विशेष (secondary) अध्यास/जीवसृष्टि का निषेध किया जाता है तो इसको कहते हैं त्वम्-पदार्थ शोधनम् । जब तत्-पद-विचार करते हैं तो केवल शुद्ध चैतन्य तुरीय बचता है । जब त्वम्-पद-विचार करते हैं तो केवल शुद्ध चैतन्य तुरीय बचता है । अतः तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ समझ में आता है ।

तत्-पद-विचार = ईश्वर सृष्टि का निषेध ।

त्वम्-पद-विचार = जीव सृष्टि का निषेध ।

अतः इन दोनों अध्यारोपों (ईश्वर और जीव सृष्टि) के अपवादों (निषेध) से तत् पदार्थ और त्वम्-पदार्थ का शोधनम्-अपि सिद्धं भवति । इस शोध से वाच्यार्थ का निषेध करके लक्ष्यार्थ पर पहुंचते हैं ।

शोधनम् – पहले वाच्यार्थ का प्रयोग करो उसके बाद यदि अर्थ न समझ में आये तो लक्ष्यार्थ का प्रयोग करना चाहिये यह शोधन की विधि है । हर वाक्य के कई अर्थ हो सकते हैं जैसे – वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, गौणार्थ, व्यंगार्थ । एक एक करके सारे अर्थों को लगाना और सही अर्थ का पता करना शोधन कहलाता है । लक्ष्यार्थ के भी कई प्रकार होते हैं ।

इस शोधन का अब और व्याख्यान किया जायेगा ।

१४४.

तथाहि - अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति ॥

तथाहि – अज्ञानादि समष्टिः एतद् उपहितम् सर्वज्ञात्वादि विशिष्टम् चैतन्यम् एतद् अनुपहितम् च एतत् त्रयम् तप्तायःपिण्डवत् एकत्वेन अवभासमानम् तत्-पद वाच्यार्थः भवति ।

अब शोधन किया जायेगा अतः सबसे पहले तत्-पद का वाच्यार्थ बताया जाता है । **एकस्य पदस्य उच्चारणेन यः अर्थः बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासते सः वाच्यार्थः** । जब किसी पद का सीधा-साधा सामान्य या बोलचाल (direct, immediate, primary) का जो अर्थ सबसे पहले (तुरन्त) दिमाग में आता है वह वाच्यार्थ होता है । Contextual meaning. विवक्षा के अनुसार अर्थ देखते हैं -

तत्वमसि महावाक्य छान्दोग्य उपनिषद में अध्याय ६ में आता है जो शुरू होता है – सदैव सौम्य इदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम् । अतः उपनिषद जगत् कारण ब्रह्म की बात कर रहा है जो ईश्वर हैं । अत तद् का अर्थ विवक्षा के अनुसार जगत्-कारण-सत् या ईश्वर है । यह वाच्यार्थ है । यह ईश्वर विवक्षा के अनुसार सोपाधिक चैतन्य है । क्योंकि यहां जगत्-कारण कहा जा रहा है अतः विवक्षा के अनुसार सोपाधिक-मायासहित-ब्रह्म ही है । अतः यह वाच्यार्थ है ।

यहां बताया जा रहा है कि वाच्यार्थ के तीन भाग है –

1. समष्टि उपाधि माया (अज्ञान) आदि का अर्थ है समष्टि सूक्ष्म और समष्टि स्थूल शरीर भी हैं (तीनों समष्टि शरीर)
2. तद् उपहितं चैतन्यं – सर्वज्ञत्व आदि विशिष्टं चैतन्यं । यह दोनों बिना अधिष्ठान के नहीं हो सकते अतः जब यह दोनों आयें तो इसका अर्थ है कि निरुपाधिक चैतन्य अवश्य ही होगा । माया और ईश्वर दोनों मिथ्या है अतः यह अधिष्ठान-सत् के बिना नहीं हो सकते । केवल माया (और ईश्वर) की बात की ही नहीं जा सकती क्योंकि इनकी स्वतन्त्र सत्ता है हि नहीं । जैसे केवल सर्प की बात ही नहीं की जा सकती क्योंकि सर्प है कि नहीं अतः सर्प + रज्जु की बात की जा रही है । या तो केवल शुद्ध-सत्य की बात हो सकती है या फिर सत्य-मिथ्या के मिश्रण की बात हो सकती है केवल मिथ्या की बात हो ही नहीं सकती है ।
3. एतद् अनुपहितं चैतन्य – निरुपाधिक शुद्ध चैतन्य

इन तीनों को मिलाकर वाच्यार्थ है । इनमें १ और २ दोनों मिथ्या हैं और ३ ही केवल सत्य है। यह अनुभव में अलग अलग नहीं है पर हम बुद्धि से अलग अलग कर रहे हैं ।

तप्तायःपिण्ड की तरह यह अलग अलग नहिं है । लोहे और अग्नि को अलग अलग नहीं कर सहते । इनको ही साधारणतया ईश्वर (विष्णु/शिव) आदि कहते हैं । सारे पूजा या स्तुति आदि जब करते हैं तो इसका अर्थ है कि ईश्वर को ही कर रहे हैं क्योंकि शुद्ध चैतन्य में व्यवहार सम्भव नहीं है । अव्यवहार्य माण्डूक्य उपनिषद में कहा गया है ।

१४५.

एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थोभवति।।१४५।।

एतद् उपाधि उपहित आधारभूतम् अनुपहितं चैतन्यम् तत्-पद-लक्ष्य-अर्थः भवति ।

लक्ष्यार्थ केवल तब ही ले सकते हैं जब वाच्यार्थ सही न हो । सीधे लक्ष्यार्थ नहीं ले सकते हैं ।

उपाधेः उपहितचैतन्यस्य च आधारभूतं वह तत्-पद का लक्ष्यार्थ हैं । माया और सोपाधिक चैतन्य का जो आधारभूत है वह निरुपाधिक चैतन्य लक्ष्यार्थ होता है तत्-पद का । क्योंकि माया और सोपाधिक चैतन्य दोनों मिथ्या हैं इसलिये उन्हे आधार की आवश्यकता होती है क्योंकि इनकी स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं ।

यह भागत्याग लक्षण कहलाता है क्योंकि वाच्यार्थ से कुछ भाग हटा देते हैं (त्याग) और जो बचता है वह लक्ष्यार्थ हो जाता है ।

१४६.

अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेत- दनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति ॥

अज्ञान आदि व्यष्टिः एतद् उपहित अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट चैतन्यम् एतद् अनुपहितम् च एतद् त्रयम् तप्तायःपिण्डवत् एकत्वेन अवभासमानम् त्वम्-पदम वाच्यार्थः भवति ।

यहां त्वम्-पद का वाच्यार्थ बताया गया है । यह तीन का मिश्रण है जैसे तप्तपिण्ड एक ही लगता है जिसको अलग अलग नहीं किया जा सकता है परन्तु हम बुद्धि से इनको अलग अलग कर के देखते हैं –

1. अज्ञान आदि व्यष्टिः (व्यष्टि कारणशरीर व्यष्टि सूक्ष्मशरीर और व्यष्टिस्थूल शरीर को मिलाकार शरीरत्रयं)
2. इन व्यष्टित्रयं से उपहित चैतन्यम् अल्पज्ञादि (प्राज्ञ + तैजस + विश्वं)
3. एतद् अनुपहितम् शुद्ध निरुपाधिक चैतन्यम् । यह तो है कि क्योंकि यह ऊपर दोनों का आधार है । ऊपर की दोनों वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता हो ही नहीं सकती ।

जब हम 'अहम्' कहते हैं तो वेदान्त के अनुसार यह तीन वस्तुओं का मिश्रण हैं । अतः जब शरीर की मृत्यू हो जाती है तो उपाधि नहीं रही अतः उपहित चैतन्य भी नहीं रहता । केवल निरुपाधिक चैतन्य रहता है ।

१४७.

एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।।१४७।।

एतद् उपाधि उपहित आधारभूतम् अनुपहितम् प्रत्यगानन्दम् तुरीयम् चैतन्यम् त्वम्-पद लक्ष्यार्थः भवति ।

यहां पर भी भागत्याग लक्षण से उपहित चैतन्य और उपाधि दोनों का त्याग करके प्रत्यग् (पञ्चकोश व्यतीतः) आनंद तुरीय बचता है वह त्वम्-पद का लक्ष्यार्थ है ।

यदि वाच्यार्थ लेंगे तो सही नहीं होगा क्योंकि सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञ आदि दोनों गुण आयेंगे और उनका ऐक्यं हो नहीं सकता अतः लक्ष्यार्थ ही लेना है । यह बताया जायेगा बाद में ।

१४८.

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते । इदं तत्त्वमसिवाक्यं सम्बन्धत्रयेण अखण्डार्थबोधकं भवति।।१४८।।

अथ महावाक्यार्थः वर्ण्यते । इदं तत्-त्वम्-असि वाक्यं सम्बन्धत्रयेण अखण्ड-अर्थ-बोधकम् भवति ।

अब महावाक्य विचार करेंगे । जीवब्रह्मैक्यं बोधक वाक्य को महावक्य कहते हैं । ऐसे अनगिनत महावाक्य हैं । यह ४ महावक्य केवल उदाहरण के लिये एक एक वेद से लिये गये हैं । तत्त्वमसि सामवेद (छान्दोग्य) से ली गई है ।

सारी वेदान्तिक शिक्षा का उद्देश्य महावाक्य के अर्थ जानना ही है ।

यहां महावाक्य की परिभाषा है – अखण्ड-अर्थ-बोधकम्-वाक्यम् महावाक्यं ।

यदि हम जीवब्रह्मैक्यं वाली परिभाषा लेते हैं तो कभी यह भी समझ सकते हैं कि जीव और ब्रह्म दो अलग अलग वस्तुयें हैं और उनका योग हो रहा है । वास्तव में तो अर्थ है कि एक ही वस्तु है और उसके दो पद (नाम) हैं यह एकत्व दिखाया जा रहा है परन्तु गलती की सम्भावना है । यह सबसे बडीं गलती है । अतः यह अखण्डार्थ वाली परिभाषा उत्तम परिभाषा है क्योंकि यह कहती है जीव और ईश्वर के बीच में कोई खण्ड नहीं है जिनका बाद में योग होगा, वह दोनों अखण्ड हैं अतः यह जीवब्रह्म-अखण्ड-अर्थ-बोधक वाक्य हैं । यह कहते हैं कि जीव और ब्रह्म अलग हैं हीं नहीं वह अखण्ड ही हैं ।

यह महावाक्य तीन stage सोपन से हो कर जाता है । हर सोपान को एक प्रकार संबन्ध कहते हैं । अतः संबंधत्रयेण अखण्डार्थबोधकं भवति ।

अब प्रश्न है कि यह तीन संबंध क्या हैं तो आगे बताये जाते हैं ।

१४९.

सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।।१४९।।

यहां तीनों सम्बन्ध के नाम दिये गये हैं ('भाव' शब्द भी लगा सकते हैं, यहां 'भाव' शब्द का अर्थ है उस प्रकृति का, of the nature of) जैसे –

१. सामानाधिकरण्यं भाव संबन्धः –
२. विशेषणविशेष्यभाव भाव सम्बन्धः
३. लक्ष्यलक्षणभाव भाव सम्बन्धः

पदों के एक समूह को वाक्य कहते हैं । वाक्य में कम से कम दो शब्द या पद अवश्य होने चाहिये । जब किसी भाव को व्यक्त करने के लिये पदों को एक निश्चित तरीके से समूहित किया जाता है तो उसे वाक्य कहते हैं । हर पद या शब्द का कोई न कोई अधिकरण होता है । **अधिकरण** का अर्थ होता है आश्रय या आधार । जैसे जल का अधिकरण घट है हमारा अधिकरण भूमि है । प्रस्तुत विवक्षा में पद के अधिकरण की बात कर रहे हैं । यह आधार या अधिकरण वह वस्तु (पदार्थ) होती है जिसके न होने पर यह शब्द नहीं रहेगा । जैसे 'कुर्सी' यह पद का अधिकरण लकड़ी की कुर्सी है । यदि कुर्सी नाम की कोई वस्तु आस्तित्व में न हो तो यह शब्द 'कुर्सी' का भी आस्तित्व नहीं होगा । यह अधिकरण दो प्रकार का होता है – समान अधिकरण और व्यधिकरण (वि-अधिकरण, विलक्षण अधिकरण) । व्यधिकरण में हर पद का अधिकरण परस्पर भिन्न होता है ।

जैसे रामः दण्डेन गां आनयति । यहां इस वाक्य में चार पद हैं प्रथम पद 'राम' का अधिकरण वह व्यक्ति है जिसका नाम राम है, 'दण्ड' नाम के शब्द का अधिकरण लकड़ी की डण्डी है । गां इति शब्द का अधिकरण है गाय पशु । अतः यहां हर पद के अधिकरण अलग अलग हैं । वि (विलक्षणं) अधिकरणं येषां तानी व्यधिकरणानि पदानि । अतः व्यधिकरणानि पदानि इमानि । इस वाक्य में व्यधिकरण पदानि हैं अतः वाक्य को **वैयधिकरण्यं वाक्य** (व्यधिकरण्यं संबद्धं/भावः) । वैयधिकरण्यं वाक्य उस वाक्य को कहेंगें जिसके पदों मे अधिकरण परस्पर भिन्न हैं । अतः वैयधिकरण्यं वाक्य के पदों का गुण है उनके अर्थ का नहीं अभी अर्थ की तो बात ही नहीं हो रही है ।

यदि वैयधिकरण्यं वाक्य लेंगे तो द्वैत सिद्ध होता है ।

'नीलं महत् सुगन्धी उत्पलम्' इस वाक्य में सारे पदों का अधिकरण एक ही पदार्थ है और वह है – उत्पलम् (कमल का पुष्प) । हम केवल एक ही वस्तु देखते हैं जो कि इन सारे पदों का अधिकरण है । दूसरा उदाहरण – 'दशरथपुत्रः धर्मसंस्थापकः दयालुः रामः' यहां पर भी सारे वाक्यों का समान अधिकरण है अतः समानं अधिकरणं येषां तानि पदानि समानाधिकरणपदानि इमानि । जिस वाक्य में सारे पद के अधिकरण समान हो उसे **सामानाधिकरण्यं वाक्यं** कहते हैं ।

समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तत्पर्यम् – आपदेव।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामान्याधिकरण्यं – नृसिंह सरस्वती, सुबोधिनी टीका। भिन्न या पृथक् प्रवृत्ति निमित्त वाले दो शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयुक्त होना सामानाधिकरण्य कहलाता है।

यह दोनों ही पदों के गुण हैं अभी तक हमनें पद के अर्थ की बात की ही नहीं है ।

पूर्वपक्षी कहता है कि ठीक है सामाना धिकरण्यं वाक्य होता है परन्तु इन वाक्यों में अखण्ड अर्थ नहीं पता चलता है क्योंकि यह पर विशेषण विशेष्य भाव है । 'नीलं उत्पलम्' में नीलं तो गुण है यह एक रंग का नाम है और उत्पल एक वस्तु है अतः गुण और वस्तु में एकता कैसे हो सकती है । एक रंग में और एक पुष्प में समानता कैसी भले ही यह रंग उस पुष्प में ओतप्रोत है । गुण और गुणी में, धर्म और धर्मी में, विशेष्ण और विशेष्य में अखण्डता कैसे हो सकती है । अतः यहां पर अत्यन्त अभेद नहीं है केवल संसर्ग अभेद है । जैसे जल और पानी में अत्यन्त अभेद है क्योंकि जल और पानी एक ही हैं परन्तु केसरी रंग और केसरी वस्त्र में अत्यन्त अभेद नहीं है क्योंकि केसरी रंग attribute है और केसरी वस्त्र noun है अतः यह दोनों अखण्ड नहीं है ।

यदि सामानाधिकरण्य वाक्य लेंगे तो पदों के अर्थ मे संसर्गात्मक अभेद से विशिष्टाद्वैत सिद्ध होता है ।

आगे चलकर यह प्रमाणित करेंगे की इन दोनों में विरोध आ जाता है अतः तीसरे प्रकार के संबंध के विश्लेशण की आवश्यक्ता होती है ।

अतः अब तक यह कहा जा चुका है कि पद के गुण के अनुसार या तो वैयधिकरण्य वाक्य होंगे या तो सामानाधिकरण वाक्य होंगे । यदि सामानाधिकरण वाक्य होंगे तो पद के अर्थ के अनुसार विशेषण-विशेष्य भाव होगा । अब यहां अर्थ की बात हो रही है ।

अतः यहां पर तीसरे प्रकार का संबंध प्रकाश में आता है और वह है लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्धः । अतःक्रम यह है –

- सबसे पहले व्यधिकरण्यं सम्बन्ध से वाक्यविश्लेशण किया जाय यदि उससे वाक्य के अर्थ में विरोध आये तो अगले सम्बन्ध पर जाना चाहिये ।
- अब सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से वाक्यविश्लेशण कर के उसके अर्थ में विशेषण-विशेष्य भाव के अनुसार वाक्यविश्लेशण करना चाहिये । यदि इससे भी विरोध आ जाये तो –
- लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध से वाक्यविश्लेशण करना चाहिये । यहा इस सम्बन्ध के भी कई विभाग होते हैं उनके अनुसार भी देखना चाहिये ।

१५०

सम्बन्धत्रयम् नाम पदयोः सामानादिकरण्यं पदार्थयोः विशेषण-विशेष्य-भावः प्रत्यग्-आत्म-लक्षणयोः लक्ष्य-लक्षण-भावः च इति ।

तदुक्तम् - "सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता । लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।।"इति।।१५०।।

सम्बन्धत्रयं नाम (सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं और उनके नाम हैं) –

- पदयोः सामानाधिकरण्यं । जब भी संबंध की बात की जाती है तो यह बताना होता है किसके बीच में संबन्ध की बात हो रही है अतः 'पदयोः' पदों के बीच में – पदों के सामानाधिकरण्यं । अतः संबन्धी हैं पद । यह एक पद और दूसरे पद के बीच में सम्बन्ध है । नील-उत्पल-पदयोः सामानाधिकरण्यं ।
- विशेषण-विशेष्य-भावः पद-अर्थ के बीच में । पहले पद के अर्थ में और दूसरे पद के अर्थ के बीच में विशेषण-विशेष्य-भावः को देखना है । नील-पदार्थ-उत्पलपदार्थयोः विशेषण-विशेष्य-भावः ।
- लक्ष्यलक्षण सम्बन्धः । किसके बीच में? 'तत्वमसि इति वाक्यं' और 'प्रत्यग् आत्मा' (जो कि अखण्ड अर्थ है) के बीच में । वक्य और लक्ष्यार्थ (आत्मा, चैतन्य) के बीच में । उपाधि हटाने के बाद सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद रहित अखण्डं चैतन्यं । उस चैतन्य और वाक्य के मध्य में लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में वाक्य और वाक्यार्थ के बीच में लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध है ।

सुरेशवराचार्य नें नैष्कर्म्य सिद्धि में कहा है – पदार्थप्रत्यगात्मनाम् का सन्धि विच्छेद इस प्रकार करना है – पद-अर्थ-प्रत्यगात्मनाम् । यहां यह तीन हिस्से पीछे दिये हुए तीन संबंध हैं । यहां पद से पदयोः और उनमें सामानाधिकरण्यं सम्बन्ध, अर्थ से अर्थयोः और उसमें विशेषणविशेष्यसम्बन्ध और प्रत्यगात्मनाम् से प्रत्यगात्मा और वाक्य के बीच में लक्ष्यलक्षण सम्बन्धः ।

हमको इन तीनों सम्बन्धों से होकर जाना है पहले पहला फिर विरोध होने पर दूसरा फिर विरोध होते पर तीसरा । इसलिये कहा है कि सम्बन्धत्रयेण अखण्डार्थं बोधयति ।

अब यह तीनों लगाये जायेंगे । सबसे पहले एक उदाहरण वाक्य में लगाया जायेगा जिससे यह क्रम समझ आ जाये ।

१५१

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा सोऽयं देवदत्त इत्यस्मिन्वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्त- वाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन्पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः । तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पादस्यापरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।।१५१।।

सामानाधिकरण्यसम्बन्धः तावत् यथा सोऽयं देवदत्तः इति अस्मिन् वाक्ये तत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक सशब्दस्य एतत् काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक अयम् शब्दस्य च एकस्मिन् पिण्डे तात्पर्य-सम्बन्धः । तथा च तत्वमसि इति वाक्ये अपि परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-वाचक-तत्-पदस्य अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य वाचक त्वम्-पदस्य च एकस्मिन चैतन्ये तात्पर्य सम्बन्धः ।

यहां सामानाधिकरण उदाहरण वाक्य में और महावाक्य में लगाया गया है ।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाम् समानविभक्तिकानाम् एकस्मिन् अर्थे सम्बन्धः सामानाधिकरण्यसम्बन्धः । all the words should reveal the same thing indicated by samaan vibhakti but at the same time there mode of function must be different. Each words reveals the same object in different different way (प्रवृत्ति) eg दशरथपुत्रः धर्मसंसथापकः दयालुः मनुष्यावतारः रामः । यहां हर पद का अधिकरण राम है परन्तु हर शब्द अलग अलग प्रवृत्ति द्वारा यह बता रहा है जैसे इस वाक्य में दशरथपुत्रः का भी अधिकरण राम है परन्तु यहां दशरथ से सम्बन्ध के द्वारा राम प्रतिपादित हो रहा है । इसी प्रकार धर्मसंस्थापक में क्रिया द्वारा राम का बोध हो रहा है । दयालुः मे गुण के द्वारा । मनुष्यावतारः मे जाति के द्वारा राम का बोध हो रहा है अतः हर शब्द राम का बोधक है परन्तु भिन्न प्रवृत्ति है । सबकी समान विभक्ति है । एकस्मिन अर्थे – रामे तात्पर्य सम्बन्धः । इसी कारण विष्णुसहस्रनाम है । पूरा सहस्रनाम में समानाधिकरण ही है और हर पद में प्रवृत्ति भेद है न कि अर्थ भेद ।

'सः अयं देवदत्तः' में भी समान विभक्ति है । एकस्मिन् अर्थे देवदत्ते । भिन्न प्रवृत्ति है । सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः तावत् ।

सशब्दः का अर्थ है 'सः' शब्द । सः परोक्ष वाचक है । अतः यह उसके लिये लगाया जाता है जो परोक्ष है या तो काल में या देश में (far away either in space or time).

जब हम कहते हैं 'सोऽयं देवदत्तः' तो हम कह रहे हैं कि 'यह वही देवदत्त है' । जैसे यह मान लो कि देवदत्त हमको १० साल पहले दिल्ली में मिला था (अभी मान लो लखनऊ में दिखा है) । तब १० साल पहले दिल्ली में उसकी दाढी थी और वह लाल रंग के वस्त्र पहने हुआ था और अब नीले रंग के वस्त्र पहने है । पहले ऐनक नहीं लगाता था पर अब लगाता है । पहले दुबला था और अब मोटा हो गया है ।

यहां 'यह' और 'वह' दोनों देवदत्त के लिये है परन्तु देश और काल दोनों का भेद है । उसकी वेशभूषा में भी कुछ भेद है ।

तत्काल विशिष्ट देवदत्त (उस काल का देवदत्त) सशब्द (सः) से बताया गया है और एतद् काल विशिष्ट देवदत्त (इस काल के देवदत्त) को 'अयम्' शब्द से बताया है । एकस्मिन् पिण्डे (शरीरे) तात्पर्य सम्बन्धः । दोनों देवदत्त एक ही (शरीर) हैं । अतः यह शब्द सामानाधिकरण्यं में हैं ।

केवल 'सः' और 'अयं' आने से ही सामानाधिकरण्यं नहीं हो गया है । यह तब होता है जब दोनों का अधिकरण एक ही हो । जैसे 'सः रामः अयं लक्ष्मणः गच्छतः' – यहां भी सः और अयम् दोनों आये हैं परन्तु यहां 'सः' का अधिकरण राम है और 'अयम्' का अधिकरण लक्ष्मण है अतः यहां समानाधिकरण नहीं है ।

यहां 'सः' और 'अयं' दोनों समान विभक्ति में हैं और दोनों का अधिकरण एक ही पिण्ड (शरीर) है अतः सामानाधिकरण्यं भवति ।

अब संस्कृत वाक्य का अर्थ –

- सामानाधिकरण्यसम्बन्धः तावत् - सामानाधिकरण्य सम्बन्ध ऐसे होता है (परिभाषा बताई जा रही है उदाहरण के साथ)
- यथा – जैसे (आगे उदाहरण है)
- सोऽयं देवदत्तः इति अस्मिन वाक्ये – 'सः अयं देवदत्तः' इति इस वाक्य में
- तत्काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक सशब्दस्य – तत् काल विशिष्ट (उस काल के) देवदत्त वाचक सशब्दस्य (सः शब्द के), और
- एतत् काल-विशिष्ट-देवदत्त-वाचक अयम् शब्दस्य – एतत् काल विशिष्ट (इस काल के) देवदत्त वाचक अयम् शब्दस्य (अयम् शब्द के)

- च
- एकस्मिन् पिण्डे – एक ही शरीर में (एक ही व्यक्ति में)
- तात्पर्य-सम्बन्धः – तात्पर्य सम्बन्धित है ।

अब यह बताया जायेगा की महावाक्य में सामानाधिकरण्यं कैसे है । इसी प्रकार (तथा च) तत्वमसि वाक्य में भी (तत्वमसि इति वाक्येऽपि) तत् पदस्य त्वम् पदस्य अपि च सामानाधिकरण्यं । अब तत् और त्वम् पद के लिये विशेषण समझाया जा रहा है ।

तत् पद चैतन्य वाचक है । विशिष्ट चैतन्य है क्योंकि यदि यह शुद्ध चैतन्य है तो वह अनन्त है और सर्वव्यापी है और उसको व्यपदेशित नहीं किया जा सकता, उसके लिये सर्वनाम का प्रयोग नहीं किया जा सकता । परोक्षत्व (अक्ष्नः परम अपरोक्षं, हमसे परे) गुण से विशिष्ट है । परोक्ष आदि । आदि में – सर्वज्ञत्मं सर्वेश्वरत्वम् जगत्-कर्तृत्वम्-सर्वसृष्टत्वम् सर्वकर्मफलदातृत्वम् ।

त्वम् पद भी चैतन्य वाचक है । विवक्षा के अनुसार त्वम् शिष्य से कहा जा रहा है और वह चैतन्य ही है अतः चैतन्यम् । यह भी विशिष्ट चैतन्य है । त्वम् (मध्यम पुरुष) को कभी भी अचेतन वस्तु के लिये प्रयोग नहीं करेंगे । अपरोक्षता (पास में, प्रत्यक्ष) से विशिष्ट है ।

तत्-पद और त्वम्-पद दोनों एकस्मिन् चैतन्ये तात्पर्य है अतः दोनों का अधिकरण चैतन्य ही है अतः सामानाधिकरण्यं है तत् और त्वम् में । तत् और त्वम् पद का धर्मभेद होने पर भी एक की चैतन्य धर्मी में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य है।

परोक्षत्व – प्रत्यक्ष दिकाई न पड़ने के कारण एवं शास्त्रैक गम्य होने के कारण ईश्वर को परोक्ष कहा गया है।

अपरोक्षत्व – जीव को 'स्व' का अनुभव स्वतः अर्थात् बिना किसी साधन के होता रहता है। प्रत्यक्ष के स्थान पर अपरोक्ष कहे जाने का कारण है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है जबकी जीव को स्व का अनुभव स्वतः बिना किसी इन्द्रिय के सहायता के प्रतिक्षण ही होता रहता है। इस प्रकार उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते और अनुभव होते रहने के कारण परोक्ष तो कह ही नहीं सकते इसलिये ही वह अपरोक्ष है। 'आदि' पद से अल्पज्ञत्व, नियम्यत्व, सुखित्व-दुःखित्व आदि का ग्रहण किया गया है।

१५२

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थेतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः । तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।।१५२।।

विशेषण-विषेश्य-भावसम्बन्धः तु यथा तत्र एव वाक्ये सशब्द-अर्थ-तत्-काल-विशिष्ट-देवदत्तस्य अयम् शब्द-अर्थ एतत्-काल-विशिष्ट देवदत्तस्य च अन्योन्य-भेदव्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्य-भावः । तथा अत्र अपि वाक्ये तत्-पद-अर्थ-परोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य त्वम्-पद-अर्थ-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्यस्य च अन्योन्य-भेदव्यवर्तकतया विशेषण-विशेष्य भावः ।

अब हम सः और अहम् शब्द के अर्थ हो लेंगे और उनमें विशेषण विशेष्य भाव दिखायेंगे ।

तत्रैव वाक्ये = सोऽयं देवदत्तः इति वाक्ये, तस्मिन्नेव दृष्टान्ते । सशब्द अर्थ (सः के अर्थ) तत्-काल विशिष्टा देवदत्तः (उस, पूर्व काल से विशिष्ट देवदत्तः) देवदत्तस्य (देवदत्त का) और अयम् शब्दार्थ एतद् काल विशिष्ट देवदत्तस्य (वर्तमान काल से विशिष्ट देवदत्तः) । इन दोनों देवदत्त मे अनेक बदलाव है । न केवल देश का भेद है अपितु काल का भी भेद है । वेशभूषा में भी भेद है ।

व्यावर्तकम् का अर्थ है जो निषेध कर दे अन्य का (eliminator). जो एक वस्तु को अन्य सभी वस्तुओं से विशिष्ट कर दे । निकालने वाला, अपवर्जन करने वाला, वियुक्त करने वाला ।

विशेषण का कार्य होता है एक विशेष संज्ञा को बाकी संज्ञायों से अलग करना । व्यावर्तकम् विशेषणम् । जो अलग करे वह विशेषण है । जैसे – 'नीला कलम लाओ' इसमें यदि कह कहते कि 'कलम लाओ' तो कोई भी कलम हो जाता (पीला, लाल, श्वेत) आदि परन्तु जब 'नीले' विशेषण का उपयोग किया तो सारे अन्य रंग के कलमों से अलग कर दिया । इसी प्रकार 'कलम' भी व्यावर्तकम् है क्योंकि 'नीला लाओ' यदि ऐसा कहेंगें तो कई नीली वस्तुयें हैं अतः 'कलम' कह कर उन सारी नीली वस्तुओं से अलग कर दिया ।

अतः अन्योन्य भेद हो गया । अतः अन्योन्यभेदव्यवर्तकतया – अन्योन्य भेद करने के व्यवर्तक होने के कारण । A pen which is not associated with any other color and a blueness which is not associated with any other object such a thing I want. यह विशेषण-विशेष्य-भाव कहलाता है अन्योन्य-भेद-व्यवर्तकतया अलग अलग गुण और अलग अलग वस्तुओं का परस्पर निषेध करने के कारण ।

तत्-पद का अर्थ जो कि परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य है और त्वम् पद का अर्थ जो कि अपरोक्ष विशिष्ट चैतन्य है, इस प्रयोग के कारण अन्योन्य भेद का निषेध हो गया । कैसे? – तुम ईश्वर हो और इसके अलावा कुछ भी नहीं हो और ईश्वर कुछ नहीं है तुम्हारे अलावा अतः यहां ईश्वर और त्वम् को सारी और वस्तुओं से पृथक कर दिया । You are god only and nothing else and god is you only and nothing else. When 'you are god only' is said then 'god' becomes eliminator (व्यावर्तकम्) of everything else and when it is said that 'god is you only' then 'you' becomes eliminator (व्यावर्तकम्) of everything else.

इसको कहते हैं विशेषणविशेष्यभाव ।

जब परस्पर विरोध न हो तभी विशेषण-विशेष्य भाव ले सकते हैं । जैसे यदि कोई वाक्य हो – मोटा पतला व्यक्ति । यहां परस्पर विरोध है विशेषण का अतः यहां यह भाव नहीं लिया जा सकता ।

यदि परस्परविरुद्धौ धर्मौ न भवतः तस्मात् तयोर्मध्ये विरोधः नास्ति तस्मात् अर्थग्रहणं सुकरं भवति । जब परस्पर विरोध होता है जैसे 'सः अयं' , 'तत् त्वम्' तब विशेषण विशेष्य भाव नहीं ले सकते । तब लक्षण का प्रयोग करना पड़ेगा ।

हम लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध में क्यों जा रहे हैं यह बाद में बताया जायेगा ।

१५३

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः ।तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः।।१५३।।

लक्ष्यलक्षण-सम्बन्धः तु तथा तत्र एव सशब्द-अयम्-शब्दयोः तद्-अर्थयोः वा विरुद्ध-तत्-काल एतत् काल विशिष्टत्व परित्यागेन अविरुद्ध-देवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः । तथा अत्र अपि वाक्ये तत्-त्वम्-पदयोः तद्-अर्थयोः वा विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि विशिष्टत्व परित्यागेन अविरुद्ध चैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः ।

लक्ष्य है निर्विशेष चैतन्य । लक्षण इन तीनों में कोई भी हो सकता है –

- तत्वमसि वाक्य
- तत् और त्वम् यह दो पद (शब्द) जो यहां लिये गये हैं
- तत् और त्वम् पद के अर्थ भी लिये जा सकते हैं । दोनों पद के वाच्यार्थ ।

पहले उदाहरण – तत्र एव (सोऽयं देवदत्त वाक्ये एव) –

- सशब्द और अयम् शब्द और अविरुद्ध देवदत्त के बीच में लक्ष्यलक्षण भाव है । यह पहला सम्बन्ध है । और
- तद्-अर्थयोः वा – सशब्द का वाच्यार्थ और अयम् शब्द का वाच्यार्थ एक साथ लक्षण होते हैं और अविरुद्ध देवदत्त लक्ष्य है ।

तरीका क्या है?

- सशब्द, तत्कालविशिष्ट देवदत्त को निर्दिष्ट कर रहा है (जो पूर्वकाल का देवदत्त है) उसके कुछ गुण हैं –
    - लाल रंग के कपड़े पहने है, दाढ़ी है, एनक नहीं लगाये है, दिल्ली स्थान है, दुबला है
- अयम् शब्द इस काल के देवदत्त को निर्दिष्ट कर रहा है (जिसके वर्तमान काल का देवदत्त है) इसके कुछ गुण हैं –
    - नीले रंग के वस्त्र पहने है, दाढ़ी नहीं है, एनक लगाये हुये है, लखनऊ स्थान है, मोटा है

परन्तु यह दोनों देवदत्त के गुण तो आपस में विरुद्ध हैं - लाल रंग के वस्त्र और नीले रंग के वस्त्र, दाढ़ी के साथ और दाढ़ी के बिना, एनक के बिना और ऐनक के साथ, दुबला और मोटा, स्थान का भी भेद है, काल का भी भेद है - तो फिर एक कैसे हुए?

यहां हम क्या करते हैं कि - उन गुणों को जो परस्पर विरुद्ध हैं हटा देते हैं (परित्यागेन) । समझ में हटा देते हैं भौतिक रूप में नहीं हटाना है । इन गुण को उपाधि कहते हैं जो अनित्य या प्रासङ्गिक हैं । वह व्यक्ति एक ही है अगर उस देवदत्त को उधार दिया है तो इस देवदत्त से वापस मिल जायेगा । तो हमने क्या किया – **विरुद्ध अंश परित्यागेन** – विरुद्ध अंश का त्याग करके अविरुद्ध देवदत्त को ले लिया (उन गुणों को हटा दिया जो भूत और वर्तमान के कारण है और उनको ले लिया जो अविरुद्ध हैं अथवा जो कि काल पे आश्रित नहीं है) तब ही एकत्व हो सकता है ।

अब तत्त्वम पदार्थ । तथा तत्वमसि वाक्येऽपि । यहां लक्ष्य निर्विशेष चैतन्य है और लक्षण के दो विकल्प हैं – तत् और त्वम पद या तो तत्-पद-अर्थ और त्वम्-पद-अर्थ । तत्तवम्-पदयोः तद्-अर्थयोः (तत्त्वम्पदार्थयोः) वा । अब अन्तिम हिस्सा लेकर दो वाक्य बनेंगे – तत्-त्वम्-पदयोः अविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तदर्थयोः अविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः । यह तो विकल्प हैं ।

तत् और त्वम् पद में चैतन्य के जो वाच्यार्थ लेते हैं (विरुद्ध चैतन्यद्वयम् ईश्वर-जीव) तो जो गुण होते हैं वह परस्पर विरोधी होते हैं (जैसे सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्वादि) इसलिये यहां अविरुद्ध चैतन्य लिया है । विरुद्ध चैतन्य में व्यावर्तकम् नहीं हो सकता । इसलिये विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि विशिष्टत्व परित्यागेन – विरुद्ध विशिष्ट गुण जो कि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व हैं उनका परित्याग करके । विवेकेन अध्यस्त विशेषणम् त्यक्त्वा । यहां विवेक बुद्धि के द्वारा मिथ्या विशेषण का त्याग करना है यह कोई भौतिक क्रिया नहीं है । परित्याग के बाद अविरुद्ध अखण्ड निर्विशेष चैतन्य बचता है जो कि तत् और त्वम् दोनों पदों का लक्ष्य है । यह अखण्ड है इसलिये किसी का योग नहीं है । जीव और ईश्वर यह दो नाम हैं एक अखण्ड निर्विशेष चैतन्य का ।

१५४

इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।।१५४।।

यह (कुछ विरुद्ध भाग का त्याग) ही भाग लक्षण यह भागत्यागलक्षण या जहदजहल्लक्षण जहत्यजहतीलक्षण कहलाता है

पूर्वपक्षी यह कह रहा है कि दो ही सोपान आवश्यक है परन्तु यहां ग्रन्थकार यह प्रमाणित करना चाह रहा है कि तीनों सोपान आवश्यक हैं ।

१५५.

अस्मिन्वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।।१५५।।

हम तीसरे सम्बन्ध में क्यों गये यह यहां बताया जा रहा है । अस्मिन् वाक्ये (तत्त्वमसि वाक्ये) नीलमुत्पलम् यह दृष्टान्त नहीं लिया जा सकता । नीलमुत्पलमिति वक्यवत् (इस वाक्य की तरह) वाक्यार्थ नहीं सही बैठता है अतः यह उदाहरण नहीं ले सकते । 'सोऽयं देवदत्तः' ही सही उदाहरण है । नीलम् और उत्पलम् में कोई विरोध नही है अतः यहां दो सम्बन्ध के बाद रुक सकते हैं परन्तु 'सः' और 'अयम्' में विशेषण और विशेष्य भाव लेने से विरोध आ जाता है ।

तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयान्योन्यविशेषणविशेष्यरूपसंसर्गस्य अन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते।।१५६।।

अत्र तु तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वंपदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।।१५७।।

१५८.

तदुक्तम् - "संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः । अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।"इति (पञ्चदशी ७|७५)।।१५८।।

ग्रन्थकार यह प्रमाणित करना चाहता है कि तीन सोपान लगेंगे ही पर पूर्वपक्षी यह कहता है की दूसरे सोपान (विशेषण-विशेष्य) के आगे जाने की आवश्यक्ता नहीं है । विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध से भी एक्य पता चलता है और यह एक्य या तो संसर्गरूप या फिर विशिष्ट रूप एक्यं हो सकता है । संसर्गरूप का मतलब है एक पद और दूसरे पद के अर्थ में अत्यन्त (अयुत सिद्धत्वरूप, जिसको अलग ना किया जा सके) सामीप्य जैसे नील गुण और उत्पल द्रव्य के मध्य में संसर्गरूप एक्य है। अतः त्वम् पदं भी जीव चैतन्य है और तत् पद ईश्वर चैतन्य है और इन दोनों पदों में अत्यन्त सामीप्य है – यह विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है – अपृथक सिद्धि है तत् त्वम् पद के बीच में यथा नील गुण उत्पल द्रव्योर्मध्ये । अतः पूर्वपक्षी कहता है कि यह सिद्ध हो जाने पर आगे जाने की आवश्यकता नहिं है ।

ग्रन्थकार कहता है कि एक्य तीन प्रकार का होता है – संसर्गरूप, विशिष्टरूप और अखण्डरूप यदि पहले दो का प्रयोग करके विरोध हो तो तीसरे में जाना पड़ेगा । अतः पहले के श्लोकों में यही सिद्ध किया है कि यह दोनों एक्य नहीं हो सकते । अपरोक्ष (ईश्वर) और परोक्ष (जीव) पदार्थ के बीच में संसर्गः कथं सम्भवति विशिष्टभावं च कथंतराम् संभवति ।

हम विशेषण-विशेष्य भाव को छोड़ नहिं सकते क्योंकि जहां सामानाधिकरण होगा वहां विशेषण-विशेष्य भाव होगा अवश्य । एक्यं वर्तव्यमेव (अवश्य होगा) । अतः हम लक्ष्यार्थ लेते हैं एक्य सिद्धि के लिये । किमर्थं एक्यं वक्तव्यं? सामानाधिकरण्यस्य तत्र वर्तमानत्वात् ।

अतः क्रम यह है –

1. सामानाधिकरण्यं का उपयोग करना चाहिये ।
2. विशेष्ण-विशेष्य भाव में जाओ इससे एक्यं का पता चलता है ।
3. पहले प्रकार के एक्यं का प्रयोग करो – संसर्गरूप एक्यं का । देखो कि यह काम नहीं करेगा ।
4. दूसरे प्रकार के एक्यं का प्रयोग करो - विशिष्ट रूप । देखो कि यह भी काम नहीं कर रहा है । अतः लक्ष्यार्थ में जाना पड़ेगा ।
5. लक्ष्यार्थ से शुद्ध चैतन्य पे आते हैं ।
6. शुद्ध चैतन्य पे आने के बाद तीसरे प्रकार का विशेषण-विशेष्य भाव – अखण्डात्मक ऐक्य का प्रयोग करो । फिर महावाक्य से शुद्ध चैतन्य बोधकं वाक्य मिलेगा ।

यह सब शंकराचार्य नें वाक्यवृत्ति नामक ग्रंथ में सिद्ध किया है – अतः वृद्ध (आचार्यों की) सम्मतिः ।

यह पंचदशी में मिलता है । संसर्गः वा विशिष्टः वा वाक्यार्थः अस्मिन महावाक्ये न सम्मतः । नीलोत्पल में काम करेगा पर यहां नहीं करेगा । अखण्ड-एक-रस (सामान्य विशेष रहितः इति एकरसः uniform undivided consciousness) वाक्यार्थः है यह बुद्धिजीवियों का मत है ।

हमनें यह प्रमाणित कर दिया है कि लक्ष्णावृत्ति का उपयोग करना पड़ेगा । अतः अब पूर्वपक्षी कहता है कि यदि लक्षण का उपयोग करना की पड़ेगा तो भागत्याग लक्षण का ही प्रयोग क्यों करें और भी कई प्रकार के लक्षण होते हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते । अतः अब यह प्रमाणित करना है कि भागत्याग लक्षण के अलावा कोई और लक्षण नहीं उपयोग हो सकता ।

१५९

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीतिवाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते।।१५९।।

अत्र गङ्गायाम् घोषः प्रतिवसति इति वक्यवत् जहद्-लक्षण अपि न सङ्गच्छते ।

यहां एक उदाहरण दिया है जहद्-लक्षण का और यह बताया है कि यह लक्षण महावाक्य में काम नहीं करेगा ।

गंगायाम् = गंगा के ऊपर, घोषः = मछुआरों का गांव, प्रतिवसति = है । वास्तव में गंगा के ऊपर गांव नहीं है क्योंकि गंगा तो प्रवाहरूपा नदि है । यदि नद्याः उपरि घोषः वर्तते तर्हि प्रवाहेण सह घोषः अपि गच्छति ।

वाच्यार्थं मुख्यम् । झटिति अर्थस्य अन्तःकरणे भानात् मुख्यम् । वाच्यार्थैव प्रथमं अन्तःकरणे उदेति । झटिति प्रतिभासते इति कृत्वा वाच्यार्थः एव मुख्यार्थः ।

प्रथमं तु वाच्यार्थं का प्रयोग करना चाहिये परन्तु यहां वाच्यार्थ से अर्थ नहीं निकलता अतः वाच्यार्थं अत्र न गच्छति प्रमाणान्तर्विरोधः इति संभवति । अनुभवः विरोधः स्यात् । अस्माकम् अनुभवे गंगायाः उपरि कश्चनपि घोषः न दृश्यते इति कृत्वा प्रत्यक्ष अनुभवः विरोधः अस्ति ।

अतः अर्थः अस्ति – गंगायाः तीरे (गंगा के तट पे) घोषः वर्तते । वाच्यार्थस्तु गंगा लक्ष्यार्थस्तु गंगातीरः अतः तीरे लक्षणा । जब तीर (तट) को लेते हैं लक्ष्यार्थ के रूप में तो गंगा को पूरी तरह से त्याग दिया है क्योंकि तट पे गंगा तो है नहिं अतः यहां वाच्यार्थ का पूरी तरह से त्याग हो गया है – बोला था की गंगा पे गांव है परन्तु लक्ष्यार्थ तो है कि (गंगा के) तट पे गांव है इसमे लक्ष्यार्थ में 'गंगा' तो है हि नहीं (केवल तट बचा है जिसके ऊपर गांव है) – गंगारूप वाच्यार्थः पूर्णतः त्यक्तः। वाच्यार्थः पूर्णतः त्यक्त्वा लक्ष्यार्थं स्वीकुर्मः । अतः यह जहद् लक्षण है । -जहद् का अर्थ है – जहाति (प्रजहाति यथा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्), हा धातु = छोड़ देना । अतः यहां कुछ छोड़ दिया जाता है ।

जैसे जब यह बोलते हैं कि भारत ईंगलैण्ड के साथ क्रिकेट खेल रहा है (इंगलैंड में) तब वास्तव में भारतदेश वहां पर नहीं गया है अपितु भारतीय जन वहां पर गये हैं । भारतपदस्य भारतीये जने लक्षणा । अतः वाच्यार्थः का पूर्णतः से त्याग हो गया है और खिलाड़ी को लक्ष्यार्थ में ले लिया है । I drank 3 cups, here we don't take 'cup' we drank 'coffee' so instead of vaachyaartha 'cup' we take laxyaartha 'coffee' and vaachaartha 'cup' is completely removed.

तत्त्वमसि महावाक्ते जहल्लक्षणा न संगच्छति । क्यों यह आगे बताया है -

१६०

तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते।।१६०।।

तत्र तु गङ्गाघोषयोः आधार-आधेय-भाव-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अशेषतः विरुद्धत्वात् वाक्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत् सम्बन्धी तीर-लक्षणायाः युक्तत्वात् जहत्-लक्षणा सङ्गच्छते ।

यहां बताया है कि जहल्लक्षण यहां क्यों काम न करता है । तु = व्यावर्तनार्थः ।

यहां 'गंगायाम्' में सप्तमी (अधिकरण) विभक्ति है अतः यह आधार है और 'घोषः' में प्रथमा विभक्ति है अतः यह आधेय है । अतः गंगाघोषयोः मध्ये आधार-आधेय-भाव-सम्बन्धः वर्तते। परन्तु यदि यह अर्थ लेंगे तो इसमें विरोध आ जायेगा ।

तत्र (गंगायां घोषः इति वाक्ये) वाक्यार्थ को पूरी तरह से (अशेषतः) त्याग करना पड़ेगा क्योंकि विरोधा आ जायेगा क्योंकि तीरलक्षण ही युक्त है (तीर-लक्षणायाः युक्तत्वात्) । अतः यहां जहल्लक्षण लगता है ।

महावाक्य में यह क्यों नहीं लगता है यह आगे बताया है -

१६१.

अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।।१६१।।

अत्र तु परोक्ष-अपरोक्ष-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधात्-भागान्तरम् अपि परित्यज्य अन्य-लक्षणायाः अयुक्तत्वात् जहल्लक्षणाः न सङ्गच्छते ।

गांगायां घोषः में 'गंगा' और 'घोषः' में कोई भी समानता नहीं है सब कुछ विरोध ही है अतः हमको पूर्णता से 'गंगा' का त्याग करना पड़ा था । सब कुछ विरोध में था अतः सब कुछ त्याग कर नया लक्ष्यार्थ लिया जो कि वाच्यार्थ से पूर्णतया भिन्न था ।

यहां पर पूर्णतया भिन्नता नहीं है अतः हमलोग तत् या त्वम् इनमें से किसी को भी पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते ।

जो जीवात्मा है वह हमारे लिये अपरोक्ष है और जो ईश्वरचैतन्य है वह हमारे लिये परोक्ष है । अतः परोक्ष-अपरोक्ष दृष्टि से इनमें विरोध है परन्तु चैतन्य की दृष्टि से तो कोई विरोध नहीं है अतः पूर्णतया विरोध नहीं है केवल भागमात्र में विरोध है । चैतन्यं में कोई विरोध नहीं है अतः चैतन्य का त्याग क्यों करें (नहीं करना चाहिये) । केवल जिस भाग में विरोध है उस भाग का ही त्याग करना चाहिये ।

विरोधः तु परोक्षापरोक्षधर्मे एव वर्तते परन्तु चैतन्ये तु न वर्तते । अतः एक्यसिद्ध्यर्थं किं करणीयमस्माभिः? हमें केवल परोक्षत्वापरोक्षत्वधर्म (औपाधिकधर्म) का परित्याग करना है । अतः परिपूर्णत्यागः न अपिक्षितः केवलं भागत्यागः अपेक्षितः ।

वाक्यार्थ है – परोक्ष (तत्-पद/ईश्वर) और अपरोक्ष (त्वम्पद/जीव) चैतन्य का एक्यं (असि) । इस वाक्यार्थ में भागमात्र का ही विरोध है । इस भागमात्र-विरोध के कारण भागान्तर (दूसरे भाग) का परित्याग करना युक्त नहीं है (दूसरे अविरोधभाग का परित्याग करने की आवश्यक्ता नहीं है) । जब हम पूर्णता से त्याग कर देंगे तो उपाधि-उपहितचैतन्य-निरुपाधिकचैतन्य के बजाय कुछ और लेने की आवश्यकता पड़ेगी (अन्यलक्षणायाः, चैतन्यात् अन्यलक्षणः) और यह युक्त नहीं है क्योंकि अविरोधी तत्त्व भी तो हैं ही यहां । अतः इस अयुक्तता के कारण (अयुक्तत्वात्) जहल्लक्षण ठीक नहीं है ।

पूर्वपक्षी यह साबित करना चाहता है जहल्लक्षण ही ठीक है अतः वह कुछ नये (मूर्खतापूर्ण) विचार लेकर आता है -

१६२.

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्।।१६२।।

"गंगापदं स्वार्थ-परित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदम् त्वम्पदम् वा स्वार्थ परित्यागेन त्वम्पदार्थम् तत्पदार्थम् लक्षयतु अतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते" इति न च वाच्यम् ॥

इति न च वाच्यं – त्वया न एवं प्रकारेण वाच्यम् (तुमको इस प्रकार न बोलना चाहिये) । किस प्रकार –

यहां पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिस प्रकार गंगाघोषः में 'गंगा' को हटाकर 'तीर' लगा दिया था उस प्रकार भी यहां पर इस प्रकार किया जा सकता है –

- या तो 'त्वम्' को पूरी तरह हटाकर 'तत्' लगा दो तो वाक्य हो जायेगा 'तत् तत् (असि)' और 'तत्' और 'तत्' में वाच्यार्थ से ही एक्यं सिद्ध हो जायेगा । त्वम् पद का लक्षण तत्-पद हो जायेगा । जीव को पूरी तरह हटाकर ईश्वर लगा दो ।
- या फिर 'तत्' को पूरी तरह हटाकर 'तवम्' लगा दो तो वाक्य हो जायेगा 'त्वम् त्वम् (असि)' और 'त्वम्' और 'त्वम्' में वाच्यार्थ से ही एक्यं सिद्ध हो जायेगा । त्वम्-पद का लक्षण तत्-पद हो जायेगा । ईश्वर को पूरी तरह हटाकर जीव ले लो ।

यथा गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा (यहां दो वाक्य हो जाते हैं)-

- तत्पदं स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं लक्षयतु (तत्पद का लक्ष्यार्थ त्वम्पद ले लो) अथवा तु
- त्वम्पदं स्वार्थपरित्यागेन तत्पदार्थं लक्षयतु (त्वम्पद का लक्ष्यार्थ तत्पद ले लो)

अतः कुतः न सङ्गच्छते ।

क्यों? आगे बताया है –

१६३.

तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतर-पदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।।१६३।।

तत्र तीरपद-अश्रवणेन तत्-अर्थ-अप्रतीतौ लक्षणया तत्-प्रतीति-अपिक्षायाम्-अपि तत्-त्वम्-पदयोः श्रूयमाणत्वेन तद्-अर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः अन्यतरपदेन अन्यतरपदार्थ-प्रतीति अपेक्षा अभावात् ।

तत्र – गंगायां घोषः इत्यस्मिन् वाक्ये – तीरपद-अश्रवणेन (तीरं पद वाक्य में कहीं भी सुनाई नहीं देता (आता नहीं है)) और उसका अर्थ प्रतीत नहीं होता है (तदर्थाप्रतीतौ) अतः वह वाक्य में लाना पड़ेगा अतः जहल्लक्षणा आवश्यक हो जाता है । पद अभाव से पदार्थ का अभाव हो जाता है और तीर पद को लाना ही पड़ेगा क्योंकि गांव तो तीर पर ही है अतः उसकी प्रतीती हो रही है अतः उसकी प्रतीती की अपेक्षा है (तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि) । परन्तु यह समस्या महावाक्य में नहीं है क्योंकि जब त्वम् (या तत्) सुनते हैं (श्रूयमाणत्वेन – सुनने के द्वारा) तो चैतन्य का अभाव तो है नहीं (निरुपाधिक चैतन्य तो वाच्यार्थ में ही वर्तमान है) अतः त्वम्पदार्थे एव चैतन्यस्य वर्तमानत्वात् किमर्थं त्वम्पदे वर्तमानचैतन्यं त्यक्त्वा तत्पदार्थे वर्तमानं चैतन्य जहल्लक्षणया ग्राह्यम् ।

यदि त्वम् (या तत्) पद में चैतन्य का अभाव होता तो उसके स्थान पर चैतन्य को लाने के लिये तत् (या त्वम्) पद को लगाना ही पड़ता । जैसे यदि त्वम् पद केवल स्थूलशरीर वाचक होता तो उसको हटाकर चैतन्य को लाना पड़ता ।

अब अजहत्-लक्षण बताया जायेगा -

१६४.

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति।।१६४।।

अत्र शोणः धावति इती वाक्यवत् अजहल्लक्षापि न सम्भवति ।

अत्र (अस्मिन् महावाक्ये) अजहल्लक्षण भी नहीं जगेगा जैसे यह लक्षण 'शोणो धावति' इति वाक्य में लगता है ।

शोणः धावति । शोणः का अर्थ है लाल (रंग) । लाल एक रंग है अतः गुण है और एक गुण कभी गमन नहीं कर सकता । गुण की तो द्रव्य (गुणी) के बिना स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं हो सकती । अतः भागने का भी प्रश्न नहिं उठता अतः यहां वाच्चार्थ के अनुसार वाक्यार्थ लें तो विरोध उत्पन्न हो जायेगा ।

क्यों नहिं लगेगा यह आगे बताया है ।

१६५.

तत्र सोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति।।१६५।।

तत्र (शोणोधावति इत्यस्मिन्वाक्ये) 'शोणगुणगमनलक्षणस्य' 'वाक्यार्थस्य' का विशेषण है । वाक्यार्थ क्या है यह विशेषण से बताया है । शोण-गुण-गमन-लक्षण यह वाक्यार्थ है । षष्टी विभक्ति है दोनों की विशेषणत्वात् । इस वाक्यार्थ में विरोध है प्रत्यक्ष प्रमाण से (क्योंकि हमने कभी किसी रंग को गमन करने नहिं देखा) । इस विरोध के कारण (विरुद्धत्वात्) हम यहां कुछ त्याग नही करते हैं अपितु कुछ लेकर आते हैं । यहां पर द्रव्य (गुणी) को लेकर आये । यहां द्रव्य 'अश्व' है । यदि जहल्लक्षण होता तो 'शोणः' को हटाकर उसके स्थान पर 'अश्व' को लेकर आते परन्तु यहां पर 'शोणः' को परित्याग न करते हुये (तद् (शोणगुण अपरित्यागेन) अश्व को लाये हैं अतः अजहत्-लक्षण । तद्-अपरित्यागेन का अर्थ है – वाच्यार्थम् अपरित्यागेन । शोणगुण-आश्रयः जो कि अश्व है (अब न तो केवल शोण है और न हि केवल अश्व है अपितु शोण गुण विशिष्ट अश्व है) – लक्षणया (इस प्रकार का लक्ष्यार्थ देकर) तद् (वाच्यार्थ का) विरोध परिहार सम्भवात् (विरोध का निषेध हो जाने के कारण) अजहल्लक्षणा सम्भवति । क्योंकि यहां पर द्रव्य को लाकर विरोध हट गया अथा प्रस्तुत उदाहरण में अजहल्लक्षण युक्त है ।

हम वाच्यार्थ को जहत् या अजहत् करते हैं ।

१६६.

अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।।१६६।।

अत्र तु परोक्ष-अपरोक्षत्व-आदि-विशिष्ट-चैतन्य-एकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात् तद्-अपरित्यागेन तत्-सम्बन्धिनः यस्य कस्यचित्-अर्थस्य लक्षितत्वे अपि तद्-विरोध-परिहार-असम्भवात्-अजहल्लक्षणा न सम्भवति एव ।

अत्र – अस्मिन् महावाक्ये । तु =पुर्वोक्त-दृष्टान्तवाक्यात् अस्य महावाक्यस्य वैलक्षण्यस्य द्योतनार्थः 'तु' शब्दः । Unlike शोणो धावति इत्यर्थम् ।

यदि अजहल्लक्षण लेते हैं तो वाच्यार्थ को रखना पड़ेगा परन्तु वाच्यार्थ में तो कई विरोध हैं (उपाधि के कारण) जैसे सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व आदि । यदि इनकों नहीं हटायेंगे तो विरोध तो हटेगा नहीं और जब तक विरोध न हटेगा तब तक ऐक्य भी सम्भव नहिं होगा ।

वाच्यार्थ पर आधारित वाक्यार्थ है – परोक्ष (सगुण-ईश्वरचैतन्य) और अपरोक्ष (सगुण-जीवचैतन्य) आदि (सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व आदि) विशिष्ट चैतन्य का एकत्व । यह ही वाक्यार्थ का विशेषण है । इस (वाच्यार्थ आधारित) वाक्यार्थ के विरोध के कारण (विरुद्धत्वात्) तत् अपरित्यागेन = इन विरोधी गुणों का (वाच्यार्थ का) परित्याग किये बिना, तत् (वाच्यार्थ से) सम्बन्धिनः (सम्बन्धित) यस्यकस्यचिदर्थस्य लक्षित्वे अपि = यदि इन विरोधी गुणों को हटाये बिना, इन (तत् और त्वम् पदों) को कोई भी अर्थ देने (लक्षित करने) पर भी उनका विरोध तो जायेगा नहीं और इस विरोध के न जाने के कारण (तत् विरोध परिहार असम्भवात्) अजहल्लक्षण नहीं सम्भव है ।

Sardar Joke – A sardar's socks were smelling badly and he was getting ready to go to a reception. So his wife asked him to change the socks and obedient sardarji obeyed. While in reception the smell was still coming so the wife said "I asked you to change the socks". The sardar replied – "I have changed the socks, you can see that the dirty socks are in my pocket."

१६७.

न च तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्।।१६७।।

'तत्पदम् त्वम्पदम् वा स्वार्थ-विरुद्ध-अंश-परित्यागेन-अंश-अन्तर सहितम् त्वम्पदार्थं तत्पदार्थम् वा लक्षयतु अतः कथं प्रकारान्तरेण भाग-लक्षण-अङ्गीकरणम्' इति न च वाच्यम् ।

तत्पद वाच्यार्थ के दो भाग हैं – चैतन्य अंश परोक्षत्वादिगुण अंश ।

त्वम्पद वाच्यार्थ के दो भाग है – चैतन्य अंश और अपरोक्षत्वादि गुण अंश ।

तत्पद लेकर उसमें से परोक्षत्वादिगुणांश निकाल दो तो केवल चैतन्य अंश बचेगा । अब तत् पद का वाच्यार्थ हो गया चैतन्य अंश जो की 'शोणः' जैसा होगया । अजहल्लक्षण से इसकें जीव विशेष्य (द्रव्य) जोड़ दो – यह 'शोण-विशिष्ट-अश्व' के समान हो गया । चैतन्यविशिष्ट जीव यह तत्पद का नया अर्थ हो जायेगा जो कि अजहल्लक्षणया लक्ष्यार्थ हो गया। इसी प्रकार त्वम्पद के साथ भी कर सहते हैं । त्वम् पद का अपरोक्षत्वाद्यंश निकाल कर चैतन्य अंश ले लो और यह अजहल्लणया यह चैतन्यविशिष्ट ईश्वर हो गया अतः इन तत् (चैतन्यविशिष्ट-जीव) और त्वम् (चैतन्यविशिष्ट-ईश्वर) का एक्यं हो गया । परोक्ष और अपरोक्ष गुण तो निकल ही गये हैं ।

तत्पदं त्वम्पदं वा स्व(वाच्यार्थ)-विरुद्ध-अंश-परित्यागेन (तत् से परोक्षत्वादिगुणांश और त्वम्पदं से अपरोक्षत्वाद्यंश निकाल दो) अंश-अन्तर सहितं (अविरुद्धांश – जो कि दोनों का चैतन्य है) को अजहल्लक्षणया त्वंपदार्थं (चैतन्यविशिष्ट-ईश्वर) तत्पदार्थं (चैतन्यविशिष्ट-जीव) लक्षयतु । अतः (एवमजहल्लक्षणया विरोधपरिहारसंभवात्) कथं प्रकारान्तरेण (किसलिये) भागलक्षण (भागत्यागलक्षण) अंगीकरणम् (का प्रयोग क्यों करें) । जब ऐसे सिद्ध हो जाता है तो भागत्याग (जहदजहल्लक्षण) में जाने की क्या आवश्यक्ता है ।

उत्तर –

एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।।१६८।।

एकेन पदेन स्व-अर्थ-अंश-पदार्थ-अन्तर उभय-लक्षणायाः असम्भवात् पद-अन्तरेण तद्-अर्थ-प्रतीतौ लक्षणया पुनः तत्-प्रतीति अपेक्षा-अभावात् च ।

यहां दोषद्वयं आरोपयते ।

पहला तो यह है कि एक पद के लिये दो लक्षण प्रयोग किये जा रहे हैं । पूर्वोक्त वाक्य में तत् पद और त्वम् पद दोनों में दो काम किये गये थे । पहला तो यह की तत् पद से परोक्षत्वादिगुणांश को और त्वंपद से अपरोक्षत्वादिगुणांश को निकाला (यह ही भागत्याग लक्षण हो गया) और दूसरा यह की इन दोनों मे अजहल्लक्षणा से द्रव्य को जोड़ा । अतः पहले तो भागत्याग लक्षण लगाया और फिर अजहल्लक्षण जगाया । अतः एक पद में ही दोनों लक्षण लगाने की क्या आवश्यकता है ।

एकेन पदेन (एक पद के द्वारा) स्व-अर्थ (वाच्यार्थ) अंश (चैतन्य अंश) (दोनों पदों में केवल चैतन्य अंश लिया जा रहा है यह ही भागत्याग लक्षण हो गया) पदार्थान्तर (दूसरे पद के अर्थ-अन्तर को लेना – त्वंपदार्थ-अन्तर ईश्वर है और तत्पदार्थ-अन्तर जीव है) – स्वार्थांश (यह भागत्याग लक्षण हो गया) और पदार्थान्तर (यह अजहल्लक्षण) हो गया – उभयलक्षणया असंभवात् (दो लक्षण लेना असंभव है) । यह प्रथम दोष है ।

दूसरा दोष है कि जब प्रतीति हो रही है तो अजहल्लक्षण से क्यों ले रहे हो । जैसे त्वम्पदार्थ के लिये अजहल्लक्षण से तत्पद का ईश्वर लिया (तभी तो चैतन्यविशिष्ट-ईश्वर बना) अब जब ईश्वर तत्पद में ही उपलब्ध है तो उसको तत्पद से लेकर त्वम्पद में जोड़ने की क्या आवश्यकता है । यही तत्पद में जीव जोड़ने की क्या आवश्यकता है जब त्वम् पद से जीव उपलब्ध है ।

पदान्तरेण तद्-अर्थ-प्रतीतौ (त्वम् पद में पहले ही जीव की प्रतीति होने से) क्यों त्वम् पदार्थ को तत् पद से (चैतन्यविशिष्टजीव बनाकर) लक्षित कर रहे हो । त्वम्पदेन त्वम्पदार्थप्रतीतौ किमर्थं त्वम्पदार्थः तत्पदेन लक्ष्यते । एवं तत्पदेन तत्पदार्थप्रतीतौ किमर्थं त्वम्पदेन तत्पदार्थः ग्रह्यते । जब एक शब्द से अर्थ प्रतीति हो रही है तो लक्षणया पुनः उस अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है । जब त्वम् पद से त्वमपदार्थ की प्रतीति हो रही है तो तत्पद से पुनः त्वम्पदार्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है ।पदान्तरेण तदार्थप्रतीतौ पुनः (अजहल्) लक्षणया तद्प्रतीति अपेक्षा अभावात् यह तर्क सही नहीं है ।

वैसे भी जब दोनों मे भागत्याग लगा दिया है और तत्पद और त्वम्पद दोनों से चैतन्य मिल गया है तो एक्यं सिद्ध हो गया है तो आगे जाने की क्या जरूरत है ।

जैसे एक मच्छर को मारने के लिये पहले उसको पकड़ो फिर उसको गुदगुदी करो ताकि वह अपना मुख खोले फिर एक सुई से उसके मुंह में बेहोशी की दवाई डालो ताकी वह बेहोश हो जायेगा और उड नहीं पायेगा फिर जब वह उड़ने में असमर्थ हो तो उसको मार दो ।

अतः जहत् और अजहत् लक्षण दोनों से एक्यं सिद्ध नहीं हो रहा है अतः अब भागत्याग लक्षण ही लगाना पड़ेगा ।

१६९.

तस्माद्यथा सोऽयं देवदत्त इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्ट -देवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धंदेवदत्तंशमात्रं लक्षयति तथा तत्त्वमसीतिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टांशं परित्यज्याविरुद्धम् अखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।।१६९।।

तस्मात् यथा सोऽयं देवदत्तः इति वाक्यं तत्-अर्थः वा तत्-काल-एतत्-काल-विशिष्ट-देवदत्त-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध तत्-काल एतत्-काल विशिष्ट अंशं परित्यज्य अविरुद्धम् देवदत्त-अंशमात्रम् लक्षयति तथा तत्त्वमसि इति वाक्यम् तत्-अर्थः वा परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-आदि विशिष्ट-चैतन्य-एकत्व-लक्षणस्य वाक्यार्थस्य अंशे विरोधात् विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धम् अखण्ड-चैतन्य-मात्रम् लक्षयति इति ।

तस्मात् – यस्मात् जहल्लक्षणः अजहल्लक्षणः च निरस्तः ।

वाच्यार्थः एव यदि अंशतया गृह्यते तर्हि लक्ष्यार्थं उच्यते ।

व्यवहार में भागत्याग लक्षण प्रयोग किया जाता है इसके लिये उदाहरण दिया है ।

यह भी कह सकते हैं कि वाक्यार्थ लक्ष्यार्थ दे रहा है या फिर यह कह सकते हैं कि वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ दे रहा है । दोनों सही हैं । पर वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ मिला है इसका कुछ लोग विरोध करते हैं अतः यहां पर पहले का प्रयोग किया है – वाक्य से लक्ष्यार्थ मिला है ।

सः इति पद तत्काल और तद्देश विशिष्ट देवदत्त को लक्षित करता है अतः तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्तः इति सः पदस्य वाच्यार्थः । अयं एतत्काल और एतद्देश विशिष्ट देवदत्त को लक्षित करता है अतः एतत्कालैतद्देशविशिष्टदेवदत्तः अयं पदस्य वाच्यार्थः ।

सोऽयं देवदत्तः इति वाक्यं तद्-अर्थः वा (वाक्य और उसका अर्थ) में कालतः विरोधः वर्तते देशतः विरोधः वर्तते च । विरुद्ध तत्काल एतत्काल अंश परित्यज्य कुतः अंशैव विरोधः वर्तते । अपरम् अविरुद्धं देवदत्त अंश मात्रं लक्षयति ।

तथा = इसी प्रकार

तथा तत्त्वमसि इति वाक्यं अविरुद्धं अखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयति । चैतन्यांशे विरोधः न स्यात् । विरुद्ध-परोक्षत्व-अपरोक्षत्व-विशिष्ट-अंशं परित्यज्य अविरुद्धं अखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयति । तस्मात् भागत्याग लक्षण इति उच्यते । जहदजहल्लक्षणः अपि उच्यते यतः जहल्लक्षण से विरुद्ध अंश का त्याग करते हैं और अजहल्लक्षण से चैतन्य अंश को रख लेते हैं ।

वृत्ति का अर्थ हो ता है वह तरीका जिससे एक वाक्य अपना अर्थ देता है (मनोमय कोश के संदर्भ में दूसरा अर्थ होता है) । वाक्य वृत्ति का अर्थ हुआ कि इस तरीके का विवेचन करना । इस विधि का विश्लेषण करना ।

यदि वाक्य को भलिभांति विश्लेषण किया जाता है तो वह प्रमा उत्पन्न करता है बुद्धि में वृत्ति ज्ञान अच्छे से आ जाता है । वृत्ति ज्ञान श्रोता के ऊपर क्या प्रभाव डालता है यह आगे बताया है -

१७०

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मि (बृ उ १ । ४ । १०) इत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते।।१७०।।

अथ अधुना अहं ब्रह्मास्मि इति अनुभववाक्यार्थः वर्ण्यते ।

तत्त्वमसि को उपदेश वाक्य कहते हैं और अहं ब्रह्मास्मि को अनुभववाक्य कहते हैं ।

अथ – उपदेश वाक्य वर्णन अनन्तरं अधुना अनुभववाक्यार्थः वर्ण्यते (विश्लेषण किया जाता है)।

एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव-परमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।।१७१।।

एवम् आचार्येण अध्यारोप अपवाद पुरःसरं तत्-त्वम्-पदर्थौ शोधयित्वा वाक्येन अखण्ड-अर्थे अवबोधिते अधिकारिणः अहम् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव-परमानन्द-अनन्त-अद्वयम् ब्रह्म अस्मि इति अखण्ड-आकार-कारिता चित्तवृत्ति उदेति ।

वृत्तिव्याप्ति-फलव्याप्ति

वेदान्त मत के अनुसार बाह्यजगत् के विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान वृत्तिव्याप्ति और उसके बाद फलव्याप्ति के द्वारा होता है । जब हम कोई ज्ञेय विषय जैसे घट इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है तो चित्त तदाकार वृत्ति धारण करता है । जैसे घट पट आदि वस्तु देखने पर उस आकार की वृत्ति मन में बनती है यह **वृत्तिव्याप्ति** है । इससे उस वस्तु का अज्ञान हटता है । जिस विषय की वृत्ति होती है वह उस विषयगत अज्ञान को ही नाश करती है । तद्तद् विषयकवृत्तिः तद्तद्गतज्ञानमेव नाशितुं समर्था भवति ।

परन्तु घट और पट आदि तो जड पदार्थ हैं और वृत्ति भी जड है अतः वृत्तिव्याप्ति मात्र से विषय के ज्ञान का स्फुरण होना असम्भव है । अतः चित्त में प्रतिबिम्बित चिदाभास उस विषयाकार वृत्ति को प्रकाशित करता है तब उस विषय के ज्ञान का स्फुरण होता है । यह चिदाभास फल है । अतः चिदाभास के द्वारा वृत्ति का प्रकाशित होना **फलव्याप्ति** कहलाता है ।

जब हम कोई वस्तु को देखते हैं तो कभी भी उस वस्तु को नहीं देखते है अपितु उस वस्तु के गुणों को देखते हैं जो कि इन्द्रिय का विषय होते हैं । जैसे यदि हम मेज को देखते हैं तो वास्तव में हम मेज नाम के वस्तु को नहीं देख रहे हैं अपितु मेज के रूप को देख रहे हैं । जब हम श्रोत्र से कुछ शब्द सुनते हैं तो मन उस शब्द के आकार का हो जाता है । इसी प्रकार हम कोई न कोई विषय ही हमेशा इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं और इन्द्रियों के विषय केवल ५ प्रकार के ही होते हैं – शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध । अतः हम इन इन्द्रियों के द्वारा केवल इन विषयों को ही ग्रहण करते हैं ।

वृत्ति के लिये सर्वदा कोई विषय अवश्य होता है । विषय मे अभाव में वृत्ति नहीं हो सकती । जो प्रमाण का विषय होता है वह ही वृत्ति का भी विषय होता है और वह ही प्रमा का भी विषय होता है । प्रमाविषयः वृत्तेःविषयश्च एकः भवितव्यः । यदि चक्षुःप्रमाणस्य विषयः रूपं तर्हि चक्षुप्रमायाः विषयोऽपि रूपं स्यात् । चक्षुः प्रमाणं घटाकार वृत्तिं जनयत् घटज्ञानं जनयति । घट जो कि चक्षु प्रमाण है वह मन में घटाकार वृत्ति उत्पन्न करता है और फिर उस घटाकार वृत्ति से घट का ज्ञान उत्पन्न होता है । अतः प्रमाण वृत्ति और प्रमा का विषय एक ही होता है । प्रमाण का कार्य हैं मन में प्रमाण के विषय के अनुरूप वृत्ति जनित करना और उसके बाद जो प्रमा उत्पन्न होती है वह भी प्रमाण के विषय के अनुरूप होती है ।

इसी प्रकार यदि वेदान्तप्रमाण या महावाक्य प्रमाण का विषय अखण्डब्रह्म है तो वेदान्त प्रमाण जनित चित्तवृत्ति का विषय और उससे उत्पन्न प्रमा का विषय भी अखण्डब्रह्म एव भवितुमर्हति । हर वृत्ति अपने विषय के आकार की ही होती है । तद्तद् विषयस्य वृत्तिः तद्तद् आकार प्राप्नोति । अखण्डब्रह्मविषयकवृत्तिरपि तदनुरूपाकारैव प्राप्नोति ।

यदि गुरु नें भलीभांति महावाक्य का अर्थ अवबोधित किया है तो प्रमा (ज्ञान) उत्पन्न अवश्य होगी क्योंकि महावाक्य ही प्रमाण है । अतः वाक्यं समीचीनया वृत्त्या अखण्डं ब्रह्म बोधयति तस्मात् वाक्य जन्या वृत्तिः अपि अखण्डं ब्रह्मैव बोधयति । अतः अखण्डब्रह्म का बोध कराने वाली वृत्ति को अखण्डाकार वृत्ति कहते हैं ।

यहां से आगे बतायेंगे कि उस वृत्ति का व्यापार क्या होता है ।

अध्यारोप अपवाद (जो कि संप्रदाय की विधि है, इसको सृष्टि विचार भी कहते हैं) के द्वारा तत्-पदम् ज्ञायते । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां त्वम्-पदार्थः केवलचैतन्यं ज्ञायते । असि पदेन तयोः एक्यम् ।

एवम् (जैसा की पूरे ग्रन्थ में अब तक विश्लेषण किया है) आचार्येण अवबोधेति सति (सतिसप्तमी प्रयोग) – अध्यारोप-अपवाद की विधि (सृष्टिविचार) के द्वारा, महावाक्य वृत्ति के द्वारा – तत्वमपदार्थौ शोधयित्वा – वाक्येन (महावाक्य के द्वारा) अखण्डार्थे अवबोधिते (जब अखण्डार्थ का पता चलता है) – तथा – अधिकारिणः (अधिकारीके लिये) चित्तवृत्तिः उदेति । कैसी चित्तवृत्ति उदेति इसका वर्णन दिया है

नित्य (शाश्वत) शुद्धः बुद्धः (स्वयं प्रकाश रूपः, ever shining) मुक्तः सत्य (अबाधितम्, पारमार्थिक सत्य इत्यर्थः) – यह सब स्वभाव (स्वरूप), परमानन्द (पूर्णत्वं), अनन्द, अद्वयं (अखण्ड) ब्रह्म अस्मि ऐसी अन्तःकरण वृत्ति आती है ।

परमानन्द (ब्रह्मानन्द) का अर्थ अनुभव नहीं होता है क्योंकि यदि इसका अर्थ अनुभव होगा तो यह वृत्ति के रूप में आनन्दमयकोशमें प्रतिबिम्बित आनन्द होगा तो इसमें देश काल की सीमा आ जायेगी । ब्रह्मानन्द का अर्थ होता है कि सारे अनुभवरूपी आनन्द मेरे ही प्रतिबिम्बि हैं । अतः परमानन्द बुद्धिगत् ज्ञान है कि मैं ही आनन्दस्वरूप हूं और जो भी आनन्द आता है वह मेरा ही स्वरूप से जनित प्रतिबिम्बि है । अतः यह पूर्णत्व है । अनुभवानन्द हो या न हो हमेशा यह ज्ञान होना कि मैं ही बिम्बानन्द हूं यह पूर्णत्वं का ज्ञान है ।

वृत्ति हमेशा वस्तु के आकार (तदाकार) होती है जैसे घटज्ञान में घटाकार वृत्ति होती है । यहां पर ब्रह्माकार वृत्ति होती है और ब्रह्म अखण्ड है अतः वृत्ति अखण्ड-आकार-कारिता होती है ।

१७२

सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परंब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति।।१७२।।

सा तु चित्-प्रतिबिम्ब-सहिता सती प्रत्यग्-अभिन्नम्-अज्ञातम् परम् ब्रह्म विषयीकृत्य तत्-गत्-अज्ञानम् एव बाधते । तदा पट कारण-तन्तु-दाहे पट-दाह-वत्-अखिल-कारणे अज्ञाने बाधिते सति तत्-कार्यस्य अखिलस्य बाधितत्वात् तद्-अन्तर्भूत अखण्ड-आकार-कारिता चित्तवृत्तिः अपि बाधिता भवति ।

आत्मज्ञान वृत्ति केवल एक ही कार्य करती है और वह है वृत्तिव्याप्ति क्योंकि चित्तवृत्ति तो स्वयं ब्रह्म से प्रकाशित है (तमेव भान्तं अनुभाति सर्वम्) तो फिर वह वृत्ति के विषय ब्रह्म को कैसे प्रकाशित कर सकती है अतः फलव्याप्ति नहीं होती है । अतः केवल अज्ञान बाधित होता है कैसे यह बताया है -

सा (अखण्डाकार चित्तवृत्तिः) तु अज्ञानमेव बाधते ।

- चित् प्रतिबिम्बि सहिता – जिस क्षण वृत्ति उदित होती है उसी क्षण प्रतिबिम्बित चैतन्य भी वृत्ति में व्याप्त हो जाता है – स्वच्छस्वभावत्वात् – जो कुछ भी स्वच्छ होगा वह चेतना को प्रतिबिम्बित करेगा ।
- जो अज्ञात् है वह तो बिम्ब चैतन्य (परमब्रह्म जो कि प्रत्यग् ब्रह्म से अभिन्न है) स्वयं है जो कि वृत्ति को प्रकाशित करता है – अतः प्रत्यग्-अभिन्नम् अज्ञातम् परम् ब्रह्म विषयीकृत्य – उस स्वयं प्रत्यग्ब्रह्म (जो कि अज्ञात है) को विषयीकृत तो करती है (वृत्तिव्याप्ति)

परन्तु बाधित केवल तद्गत (ब्रह्मगत) अज्ञान को ही करती है । जिस विषय की वृत्ति होती है वह उस विषयगत अज्ञान को ही नाश करती है अतः यहां ब्रहाकार वृत्ति ब्रह्मगत अज्ञान का नाश करती है । यहां केवल वृत्तिव्याप्ति होती है फलव्याप्ति नहीं होती ।

केवल प्रमाण जन्य वृत्ति ही अज्ञानविरोधितत्वात् अज्ञान को बाधित करती है अन्यथा वृत्तियां तो पांच प्रकार की होती है - वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः । इनमें केवल प्रमाण वृत्ति ही अज्ञान का नाश करती है और प्रमाण वृत्ति की परिभाषा है - प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (शास्त्र) को ही प्रमाण कहते हैं । यहां पर हम महावाक्य (शब्द प्रमाण) ले रहे हैं जो कि शब्द प्रमाण है – वेदान्तो नामोपनिषद् प्रमाणं ।

सारे द्वैत की जड़ यह अज्ञान ही है । मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणया अशेषं मया कल्पितम् (मनीषा पञ्चकं) । सर्वमेतत् अज्ञान कल्पितत्वात् अज्ञानमेव व्यावहारिक द्वैतस्य कारणम् । अज्ञान नाशे सति अज्ञानजतिन द्वैतमपि नाश्यते । अज्ञान उपादान कारण है और द्वैत कार्य है ।

कारणे नाशे कार्य नाशः । इसका उदाहरण दिया है । पट (कपड़ा) (तन्तु) धागे से बनता है अतः तन्तु उपादान कारण है और पट कार्य है । उपादान कारण का नाश होने से कार्य का भी नाश हो जाता है – यह एक न्याय भी है – तन्तुदाहे पटदाहः । अतः अज्ञान नाशे द्वैत नाशः ।

यहां पर वृत्ति का विषय पारमार्थिक (अखण्डब्रह्म) है परन्तु अन्तःकरण वृत्ति व्यावहारिक ही है । वृत्तिमपि द्वैतप्रपञ्चे अन्तर भवति । गुरुरपि द्वैतप्रपञ्चे अन्तर भवति । शास्त्रमपि द्वैतप्रपञ्चे अन्तर भवति । तस्मात् प्रमातृ प्रमाण प्रमेय त्रिपुटि सर्वमपि द्वैतप्रपञ्चे अन्तर भवति । अतः ज्ञानप्राप्तिभिः गुरुशास्त्रान्तःकरणवृत्त्यादि द्वैतमपि गच्छति ।

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम्।कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणु वत् ॥

निमित्त कारण का नाश होने से कार्य का नाश नहीं होता है । carpenter मरणे कार्यभूत furniture का नाश नहिं होता है ।

अब वाक्य को देखते हैं –

तदा (यदा अखण्डाकार वृत्ति उदेति) पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवत् – जैसे वस्त्र के उपादान कारण तन्तु के दहते ही पट भी जल जाता है वैसे ही, अखिलकारणे (सब द्वैत के कारण) अज्ञाने बाधिते सति तत् (अज्ञानस्य) कार्यस्य अखिलस्य (सकल द्वैत का - चाहे वह ईश्वर-जीव का भेद हो या जगत्-जीव का भेद हो या ईश्वर-जगत् का भेद हो) बाधितत्वात् (बाधित होने के कारण, नाश नहीं होता है केवल बाधित होती है – व्यावहारिक प्रपञ्च न नश्यति केवल मिथ्यात्वेन दृश्यते, जगत् में आत्म बुद्धि का नाश हो जाता है जगत् का नाश नहीं होता) तद्-अन्तर्भूत (तत् कार्य अन्तर्भूत, अज्ञान कार्यमान व्यावहारिक प्रपञ्च अन्तर्भूत) अखण्ड-आकार-कारिता (उस अखण्डाकार) चित्तवृत्तिः अपि बाधिता भवति ।

संसार को नष्ट करने के बाद और व्यावहारिक प्रपञ्च को बाधित करने के बाद चित्तवृत्ति भी बाधित हो जाती है उसका निषेध हो जाता है । जैसे after eating icecream cone also is eaten (icecream is samsara and cone is vritti).

यहां व्यावहारिक प्रपञ्च, शास्त्र, गुरु आदि, और अखण्डाकार वृत्ति का नाश नहीं होता उनका निषेध हो जाता है । उनमें जो आत्मबुद्धि है उसका नाश हो जाता है और मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है । वृत्ति बाधित होती है नाशित नहीं ।

१७३.

तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपर-ब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताखण्डवृत्तेर्बाधितत्वाद् दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।।१७३।।

तत्र प्रतिबिम्बितम् चैतन्यम् अपि यथा दीप-प्रभा-आदित्य-प्रभा-अवभासन-असमर्था सति तया अभिभूता भवति तथा स्वयम् प्रकाशमान प्रत्यग् अभिन्न पर-ब्रह्म-अवभासन-अनर्हतया तेन अभिभूतम् सत् स्व-उपाधिभूत अखण्डवृत्तेः बाधितत्वात् दर्पण-अभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत् प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्म-मात्रं भवति ।

अन्य विषयों में वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य वृत्ति को प्रकाशित करता है परन्तु यहां जब प्रत्यगभिन्न ब्रह्म ही विषय होता है तब प्रतिबिम्ब चैतन्य बिम्ब चैतन्य को प्रकाशित नहीं कर सकता है ।

रात्रि में दीपप्रभा जो वस्तुओं को प्रकाश करती है वह दिन में आदित्यप्रभा को प्रकाशित नहीं कर सकती वह आदित्यप्रभा से अभिभूत हो जाती है ।

यथा दीपप्रभा आदित्यप्रभा (को) अवभासन (भासित करनें में) असमर्था (असमर्थ होकर) सती तया (उसके द्वारा) अभिभूता भवति तथा

तत्र (अखण्डाकारवृत्तौ) प्रतिबिम्बित चैतन्यमपि परब्रह्म (को) अवभासन (को भासित करनें में) अनर्हतया (असमर्थ होने के कारण) तेन (परब्रह्म के द्वारा) अभिभूतं (नष्ट नहीं होती है केवल अभिभूत होती है) सत्

जब वृत्ति ने वृत्तिव्याप्ति के द्वारा अज्ञान का नाश कर दिया (वृत्तिव्याप्ति से अज्ञान का आवरण हट जाता है) उसके बाद वह फलव्याप्ति में असमर्थ होते के कारण शान्त हो जाती है । जिस प्रकार दर्पण के न रहने पर मुख का प्रतिबिम्बि मुख में विलीन हो जाता है उसी प्रकार उपाधिभूत अखण्ड वृत्ति न रहने पर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी न रह कर प्रत्यग् अभिन्न परं ब्रह्म मात्र ही रहता है । उपाधि के न रहने पर उपाधि-प्रतिबिम्बित-चैतन्य भी नहीं रहता केवल प्रत्यग् चैतन्य मात्र भवति ।

स्व (प्रतिबिम्बिचैतन्यस्य)-उपाधिभूताखण्डवृत्तेः बाधितत्वात् प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्मं मात्रं भवति । यथा दर्पण-अभावे मुखप्रतिबिम्बस्य (मुखप्रतिबिम्ब का जो बिम्ब था) मुखमात्रत्ववत् (केवल मुख ही रह जाता है है) तथा एव ।

अतः फलव्याप्ति नहीं होती ।

१७४

एवं च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यम् "(बृ उ ४।४।१९)"यन्मनसा न मनुते "(के उ १।५) इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात् ॥

'मनसा एव अनुद्रष्टव्यम्' 'यत् मनसा न मनुते' इति अनयोः श्रुत्योः अविरोधः वृत्तिव्याप्यत्व अङ्गीकारेण फलव्याप्यत्व प्रतिषेध-प्रतिपादनात् ।

यह दोनों श्रुतियों में विरोध सा लगता है –

- मनसा एव अनुदृष्टव्यम् – ब्रह्म को केवल मन से ही (एव) जाना जाता है (और कोई साधन नहीं है) । मुण्डक उपनिषद में भी आता है - एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः – ३.१.९ । यह अणु (सूक्ष्म) आत्मा को चेतसा के द्वारा ही जानना चाहिये ।

- दूसरी तरफ केन उपनिषद् कहता है – यत् मनसा न मनुते । जिसको मन से नहीं जाना जा सकता । मन जिसको नहीं जान सकता । न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति नो मनः ।

यहां विरोध सा भासित होती है । पर यहां पर कहां जाता है कि अज्ञान-नाशार्थम् अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा ही सकता है । अतः वृत्तिव्याप्ति को 'मनसा एव अनुदृष्टव्यम्' इत्यस्मिन् वाक्ते अङ्गीकृत किया गया है । वृत्तिव्याप्यत्व अङ्गीकारेण (के द्वारा)

मनसा न मनुते – के द्वारा फलव्याप्ति का निषेध किया है । फलव्याप्यत्व प्रतिषेध-प्रतिपादनात् (फलव्याप्ति के निषेध का प्रतिपादन किया है) ।

अतः कोई विरोध नहीं है ।

१७५.

तदुक्तम् - "फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् । ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।।"इति (पञ्चदशी ६।९०) ॥१७५॥

फलव्याप्यत्वम् एव अस्य शास्त्रकृद्भिः निवारितम् । ब्रहणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता ॥ इति ॥

शास्त्रकृत् – वेदान्तिक आचार्यो इत्यर्थः । फलव्याप्यत्वम् का निषेध किया है । परन्तु ब्रह्मणि (ब्रह्म गत) अज्ञान का नाश करने लिये वृत्तिव्याप्ति की अपेक्षित है ।

१७६

"स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते । "इति च (पञ्चदशी ६।९२)।।१७६।।

स्वयम् प्रकाशमानत्वात् न आभास उपयुज्यते ।

फलव्याप्ति का निशेध क्यों किया है इसका कारण यहां दिया है – क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है अतः (चित्)आभास न उपयुज्यते (उपयोगिता) नहीं है ।

अब बताया जा रहा है कि कैसे आत्मज्ञान दूसरे ज्ञानों से भिन्न है ।

१७७

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति।।१७७।।

तथाहि । अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति।।१७८।।

जडपदार्थ-आकारा-कारित-चित्त-वृत्तेः विशेषः अस्ति । तथाहि । अयं घट इति घटाकार-कारित-चित्त-वृत्तिः अज्ञातम् घटम् विषयीकृत्य तद्गत् अज्ञान निरसनपुरःसरं

अब अनात्मज्ञान बता रहे हैं – आत्म और अनात्मज्ञान में भिन्नता दिखाने के लिये ।

आत्मा भी स्वयं को बिना अन्तःकरण के नहीं जान सकती ।

हर ज्ञान के लिये प्रमाणजन्य वृत्ति की आवश्यकता होती है ।

अनात्मज्ञान में वृत्ति प्रतिबिम्बि का उपयोग होता है यर्हि (यदर्थम, जबकी) आत्मज्ञान में नहीं होती ।

जड पदार्थ में जड-पदार्थ आकार कारित चित्त वृत्ति होती है । यह विशेष – भिन्न होती है आत्मज्ञान वृत्ति से । इसको समझाने के लिये एक उदाहरण लिया है –

अयं घटः इति जब ज्ञान होता है तब –

- प्रत्यक्षप्रमाणं (चक्षुःप्रमाणं) अन्तःकरणे घट-आकार चित्तवृत्ति जनयति । यह चित्त वृत्ति अज्ञात-घट को विषयीकृत्य
    - वेदान्त में मनोवृत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों से बाहर जाकर घट को व्यापत कर लेती है इसको ही वृत्तिव्याप्ति या विषयीकरणम् कहते हैं ।
- घट गत् अज्ञान (आवरण) को निरसरं (हटा देती है) ।
- स्वगत चिदाभास के द्वारा – वृत्ति में चिदाभास व्याप्त होता है अतः वह भी बाहर जाकर घट को व्याप्त कर देता है (इस चैतन्य को फलचैतन्य कहते हैं)

जब फलचैतन्यं उस वस्तु को व्याप्त करता है तब ही ज्ञान होता है (भाति) ।

१७९

तदुक्तं - "बुद्धितस्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् । तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।।" इति । (पञ्चदशी ७ । ९१)।।१७९।।

यहां भी अनात्म के बारे में बताया है । बुद्धि से अर्थ है प्रमावृत्ति । बुद्धिश्च बुद्धिस्थचिदाभासश्च इत्यर्थः। वृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं च द्वौ पति घटम् व्याप्नुतः – यह दोनों घट को व्याप्त करते हैं । जब बुद्धि व्याप्त करती है है वृत्तिव्याप्ति कहते हैं और जब वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं व्याप्त करता है तो फलव्याप्ति कहते हैं । तत्र – इन दोनो के व्याप्त करने की प्रक्रियाओं में – धिया (बुद्धि वृत्ति) अज्ञानम् नश्येत् (आवरणं भङ्गो भवेत) इसको वृत्तिव्याप्ति कहते हैं । और आभासेन (फलव्याप्ति के द्वारा, चिदाभास के व्याप्त करने के कारण) घटः स्फुरेत् ।

१८०

यथा दीपप्रभामण्डलमन्दकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरःसरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।।१८०।।

यथा दीपप्रभा-मण्डलम्-अन्धकारगतं घट-पट-आदिकं विषयीकृत्य तद्-गत् अन्धकार निरसनपुरःसरं स्वप्रभया तदपि भासयति इति ।

दीप दो कार्य करता है प्रथम तो अंधकार का निरसन करता है और दूसरा वस्तुओं को प्रकाशित करता है ।

यथा दीपप्रभामण्डलम् (जैसे दीप की प्रभा) अन्धकार गत् घटादि को विषयीकृत करके फिर अपनी प्रभा (स्वप्रभया) से (तदपि – घटादि विषयमपि)) उसको भासित करती है ।

१८१

एवं भूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनन- निदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते।।१८१।।

एवंभूत-स्वस्वरूप-चैतन्य-साक्षात्कार-पर्यन्तम् श्रवण-मनन-निदिध्यासन-समाधि अनुष्ठानस्य अपेक्षितत्वात् ते अपि प्रदर्शयन्ते ॥

श्रवण का अर्थ है वेदान्त वाक्यों का विश्लेषण या मीमांसा । समाधि निदिध्यासन का ही भाग है । यह सारे अन्तरङ्ग साधन हैं । इन साधनों का साध्य है – स्वस्वरूप-चैतन्य-साक्षात्कार अर्थात अपरोक्ष ज्ञान ।

साध्य प्राप्ति पर्यन्तम् यह अनुष्ठान अपेक्षित हैं । जब तक साक्षात्कार नहीं हो जाता । अतः अनुष्ठान अपेक्षित होने के कारण (अपेक्षितत्वात्) ते अपि प्रदर्शयन्ते ॥

१८२

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।।१८२।।

श्रवणम् नाम षड्-विधलिङ्गैः अशेष-वेदान्तानाम् अद्वितीय वस्तुनि तात्पर्य अवधारणम् ॥

श्रवण का अर्थ है तात्पर्य (जीव-ब्रह्म-एक्यं) अवधारणम् (निश्चयम्) । अद्वितीय वस्तुनि (ब्रह्म) में सम्पूर्ण (अशेष) वेदान्तों के द्वारा (वेदान्तानाम्) अखण्डार्थ के तात्पर्य का अवधारण करना । यह अवधारणा ६ प्रकार के लिङ्गों (तरीके, चिह्न) का प्रयोग कर के करना है ।

रामराय कवि – पहले विशिष्टाद्वैत था फिर अद्वैत में आये और यह प्रमाणित किया की सारे पुराणों में भी अद्वैत ही बताया है ।

१८३

लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।१८३।।

लिङ्गानि तु उपक्रम-उपसंहार-अभ्यास-अपूर्वता-फल-अर्थवाद-उपपत्ति-आख्यानि ॥

तेन ज्ञायते - उपक्रमोपसंहारौ द्वौ मिलित्वा एकं लिङ्गम्, अभ्यासः, अपूर्वता, फलम्, अर्थवादः, उपपत्तिश्च इति षट् गण्यते इति ।

- उपक्रम-उपसंहार (शुरुआत और अन्त)
- अभ्यास
- अपूर्वता (जो पहले नहीं था – अपूर्व)
- फल (benefits)
- अर्थवाद (निंदा-स्तुति)
- उपपत्ति (युक्ति reasoning)

१८४

तदुक्तम् - "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।"।।१८४।।

श्लोक रूप में यह ६ लिंग बताये हैं – तात्पर्य निर्णये (विषये सप्तमी) ।

यहां पर यह सारे लिंग एक उदाहरण से समझाये हैं इस प्रकार उनको समझने के साथ साथ उनका प्रयोग भी करना सिखाया है । यह अपेक्षित है कि यह तरीका बाकी सारे उपनिषद् में लगाया जायेगा ।

यहां छान्दोग्य उपनिषद् का तत्त्वमसि प्रकरण लिया है उदाहरण के लिये ।

१८५

प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ । यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुन "एकमेवाद्वितीयम् " (६।२।१) इत्यादौ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् " (६।८।७) इत्यन्ते च प्रतिपादनम् ॥

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अर्थस्य तद्-आदि-अन्तयोः उपपादनम् उपक्रम-उपसंहारौ । यदा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीय वस्तुनः 'एकम् एव अद्वितीयम्' इत्यादौ 'एतद् आत्म्यम् इदं सर्वम्' इति अन्ते च प्रतिपादनम् ।

पहले परिभाषा दी है – प्रकरण के द्वारा जो प्रतिपादित अर्थ है वह प्रकरण के आदि में और अन्त में निरूपण किया जाता है (जैसे introduction and summary/conclusion of any paper). ग्रन्थ लेखक अपने मन में कुछ हेतु रखकर ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है और हेतु सिद्ध होने पर उपसंहार करता है । अतएव ग्रन्थ के तात्पर्थ निर्णय में उपक्रम और उपसंहार का सबसे पहले विचार किया जाता है । तो तात्पर्य ग्रन्थ के आदि और अन्त में स्पष्ट दिखाई देता है वह ग्रन्थ का सहज तात्पर्य है । जैसे उदाहरण में ब्रह्म से उपसंहार और आरम्भ दोनों किया है ।

जैसे छान्दोग्य के ६ अध्याय में प्रकरण के द्वारा प्रतिपादित वस्तु आदि में 'एकम् एव अद्वितीयम्' के द्वारा बताई गई है । प्रकरण के अन्त में उपसंहार किया है यह कि यह आत्मा (ऐतद्) ही सबका (इदम् सर्वम्) अन्त्यम् (व्याप्त, आत्मा, content) है ।

१८६

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः । यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम् ॥

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनम् अभ्यासः । यथा तत्र एव अद्वितीय वस्तुनि मध्ये तत्त्वमसि नवकृत्यः प्रतिपादनम् ॥

पहले परिभाषा दी है – उपक्रम और उपसंहार के मध्य में पुनः पुनः (पौनःपुन्येन) प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु का प्रतिपादन 'अभ्यास' है ।

ग्रन्थकार के मन में जिस बात को सिद्ध करने की इच्छा होती है उसके समर्थन के लिये कई बार कई कारणों का उल्लेख करके बार बार एक ही निश्चित सिद्धान्त को प्रकट किया जाता है और हर बार कहा करता है कि यह सिद्ध होता है ।

यथा छान्दोग्य उपनिषद् में (तत्रैव) अद्वितीय वस्तुनि (विषये सप्तमी) तत्त्वमसि को नौ बार (नव कृत्वः (अव्यय, इसका अर्थ होता है इतनी बार)) विभिन्न तर्क देकर कहा है । अभि + अस् धातु = बार बार होना, repeat ।

१८७

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता । यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।।१८७।।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य अद्वितीयवस्तुनः प्रमाण-अन्तर-अविषयीकरणम् अपूर्वता । यथा तत्रैव अद्वितीय वस्तुनः मानान्तर अविषयीकरणम् ॥

प्रमाणान्तर अविषयीकरणम् (किसी दूसरे प्रमाण से तात्पर्य जानना असम्भव हो, – प्रत्यक्ष अनुमान उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धी आदि बाकी पांच प्रमाणों से नहीं जाना जाना चाहिये) । यदि यह दूसरे प्रमाण से जाना जा चुका है तो 'अधिगतम्' कहलाता अन्यथा 'अनधिगतम्' या 'अनधिगतार्थ' कहलाता है । तो अद्वितीय वस्तु को अनधिगत् होना चाहिये ।

न विद्यते पूर्वं ज्ञानं यस्य ।

यथा अद्वितीय वस्तु दूसरे प्रमाणों से अज्ञेय है ।

१८८

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम् । यथा तत्र "आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये "(६।१४।२) इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।।१८८।।

फलं तु प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य आत्मज्ञानस्य तद् अनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणम् प्रयोजनम् । यथा तत्र "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावत् चिरम् एव यावत् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति अद्वितीय वस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते ॥

ग्रन्थ के अध्ययन का फल भी उसके प्रयोजन हो सिद्ध करता है । ग्रन्थकर्ता उसका उल्लेख एक बार या जगह-जगह कई बार करता है । उस पर ध्यान देने से ग्रन्थ का तात्पर्य का निर्णय हो सकता है । जैसे शंकराचार्य सृष्टि प्रकरण को उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय नहीं मानते हैं क्योंकि एसा कहीं भी नही कहा गया है कि – 'जो सृष्टि को जानता है ……" आदि आदि । इसी पञ्चकोश आदि भी निष्फलत्वात् प्रतिपाद्य विषय नहीं हैं ।

सृष्टि प्रकरण को भी दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता अतः अपूर्व तो है परन्तु निष्फल होने के कारण प्रतिपाद्य विषय नहीं है । जैसे इन्द्र आदि का अथवा १४ लोक का वर्णन आदि भी अपूर्व हैं परन्तु तात्पर्वत् नहीं हैं ।

फलं का अर्थ है प्रयोजन (benefit), किसका प्रयोजन – प्रकरण-के-प्रतिपाद्य-आत्मज्ञान-का और उसके अनुष्ठान का (यह अनुष्ठान कर्मकाण्ड और उपासना के विषय में भी हो सकता है) ।

जैसे उदाहरण में –जिसके पास आचार्य, गुरू हैं (आचार्यवान्) मुमुक्षु (पुरुषः) ही ब्रह्म को जानता (वेद) है उसके लिये (तस्य) मोक्ष प्राप्ति में उतना ही (तावत् एव) विलम्ब (चिरम्) है जब तक (यावत्) वह प्रारब्ध/देहबन्धन से मुक्त नहीं होता (विमोक्ष्ये) उसके पश्चात (अथ) तो वह ब्रह्मसंपत्ति/ब्रह्मप्राप्ति को प्राप्त हो जाता है । यह विदेहमुक्ति के संदर्भ में है ।

अतः इस उदाहरण से – ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन (अद्वितीयवस्तुज्ञानस्य प्रयोजनम्) ब्रह्मपद की प्राप्ति (तत्प्राप्तिः) एसा सुनते हैं (श्रूयते) ।

१८९

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः । यथा तत्रैव "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् "(६।१।३) इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।।१८९।।

प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनम् अर्थवादः । यथा तत्र एव "उत तम् आदेशम् अप्राक्ष्यः येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातम् " (६।१।३) इति अद्वितीय-वस्तु-प्रशंसनम् ।

अर्थवाद दो प्रकार का होता है –

- प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु की स्तुति । स्तुति-अर्थवाद । और
- अन्य सभी वस्तु की निन्दा । निन्दा-अर्थवाद ।

प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु की जगह जगह (तत्र तत्र) प्रशंसा करना 'अर्थवाद' है ।

जैसे – क्या (उत) तुमने वह (तम्) आदेश (आदेशम्) पूछा है (अप्राक्ष्यः) जिसके द्वारा (येन) अश्रुत (अश्रुतं) श्रुत (श्रुतं) हो जाता है अमत मत हो जाता है और अविज्ञान (अविज्ञातम्) विशेष रूप से ज्ञान (विज्ञातम्) हो जाता है ।

ऐसा ही प्रश्न मुण्डक में भी पूछा है शौनक नें अंगिरा से – कस्मिन्नु विज्ञातो ....

तात्पर्य यह है कि क्या तुमने कारण/अधिष्ठान के बारे में जाना है । क्योंकि कारण जान लेने से सारे कार्य स्वतः ही ज्ञात हो जाते हैं । अतः जो आत्मज्ञानी होता है वह सर्वज्ञ होता है ।

जब आत्मज्ञानी को सर्वज्ञ कहते हैं तो यह glorification होता है क्योंकि अक्षरशः तो सर्वज्ञ का अर्थ होगा जो सब कुछ जानता है जैसे – Chinese, Russian, all recipes, all sciences. अतः यहां literal सर्वज्ञत्व नहीं है क्योंकि वह तो केवल ईश्वर ही है ।

लेकिन वास्तव में आत्मज्ञानी उस ब्रह्म को जान जाता है जो सबका सार है । वह उतना जान जाता है जो जानना आवश्यक है मोक्ष के लिये । क्योंकि इसके अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है । खाना बनाना आता है या नहीं इसकी आवश्यकता नहीं है । अतः यहां सर्वज्ञत्व केवल प्रशंसा के लिये है ।

इसी प्रकार की कथा शंकराचार्य के जीवन चरित्र में आती है जब मण्डनमिश्र ही पत्नी नें उनसे पूछा था की काम के बारे में शास्त्रार्थ करते हैं तो उन्होने राजा के अन्दर जाकर परकाया प्रवेश से जाना था । अतः सर्वज्ञत्व का अर्थ अक्षरशः नहीं है क्योंकि यह सब सत् चित् आनन्द की प्राप्ति के लिये आवश्यक नहीं है ।

सर्व अधिष्ठान ज्ञानमेव सर्वज्ञत्वम् ॥ इसी प्रकार इन्द्र सूर्या आदि में कई सिद्धियां होती है परन्तु ज्ञानी जानता है कि यह सब अखण्ड ब्रह्म ही है और तत्त्व की दृष्टि से मुझमें और उनमें कोई भेद नहीं है अतः यह सारी सिद्धियां मेरी ही हैं ।

ऐश्वर्य सर्वज्ञत्वम् अष्टसिद्धि आदि सब प्रशंसावाद है । दुःखनिवृत्ति आनन्द आप्तकाम आदि अक्षरशः है ।

१९०

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रुयमाणा युक्तिरुपपत्तिः । यथा तत्र "यथा सौम्येक्यैन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् "(६।१।४) इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते ॥

प्रकरण-प्रतिपाद्य-अर्थ-साधने तत्र तत्र श्रुयमाणा युक्तिः उपपत्तिः । यथा तत्र "यथा सौम्येक्यैन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् "(६।१।४) इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते

किसी मत को सिद्ध करने के लिये बाधक मतों का खण्डन करना और साधक प्रमाणों का तर्कशास्त्र से मण्डन करना 'उपपत्ति' कहलाती है । उपक्रम से उपसंहार की तरफ बढते समय उपपत्ति का सहारा लिया जाता है । प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थसाधन के लिये जो जगह-जगह युक्तियाँ दी जाती है उन्हें 'उपपत्ति' कहते हैं ।

जैसे छान्दोग्य में – हे सौम्य जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड के द्वारा (एकेन मृत्पिण्डेन) सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं सत्य तो केवल मृत्तिका ही है ।

वाचा (वाणी के द्वारा) आरम्भणम् (आरभ्यते इति आरम्भणम्) – वाक् के द्वारा शुरु हुआ है (वाक् का उत्पाद है) ।

यह 'जगत्' केवल एक नाम ही है जैसे 'घट' केवल एक नाम है ऐसी कोई वस्तु आस्तित्व में नहीं है । यह मिथ्या है । मृत्तिक एव सत्यम् ।

उपनिषद् में 'कार्य' शब्द के स्थान पर 'विकार' का प्रयोग करते हैं । विकार = कार्यस्य जगत् ।

इन ६ लिङ्ग के प्रयोग से समझना श्रवण कहलाता है (केवल श्रोत्र से सुनना नहीं) ।

१९१

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।।१९१।।

मननम् तु श्रुतस्य अद्वितीयवस्तुनः वेदान्त-अनुगुण-युक्तिभिः अनवरतम् अनुचिन्तनम् ॥

तु शब्दः श्रवणव्यावृत्तिः सिद्ध्यर्थम् । 'तु' शब्द का प्रयोग श्रवण से अलग अर्थ दिखाने के लिये ।

युक्तिभिः – युक्ति (by reasoning) के द्वारा अनवरतम् (सततम्, पुनः पुनः) अनुचिन्तनम् = विचार करना ।

किस प्रकार कि युक्ति होनी चाहिये – वेदान्त-अनुगुण = वेदान्त के अनुरूप (प्रमाण के साथ) अन्यथा यह प्रमाणरहित शुष्क अन्ध तर्क होगा ।

श्रुतस्य – जो ज्ञान श्रवण के द्वारा प्राप्त हुआ है (मनन और निदिध्यासन ज्ञान नहीं देते, ज्ञान प्राप्ति केवल श्रवण से होती है) – श्रवणेन प्राप्तस्य ।

मनन ज्ञान प्राप्ति के लिये नहीं होता यह संशय मिटाने के लिये होता है ।

Logic cannot reveal brahman. न एषा तर्केण मतिः आपनेया, अणीयान् हि अतर्क्यम् अणुप्रमाणात् (कठोपनिषद् १.२.९) । वेदान्त को तर्क के द्वारा न तो समझा जा सकता और न ही निषेध किया जा सकता है । जो तर्क के परे है उसको तर्क से कैसे जाना या विरोध किया जा सकता है । जैसे जो आँखों का विषय नही है उसे आंखों से नहीं समझा जा सकता यदि किसी गाने के बारे में मतभेद है तो उसे कैसे आंखें निर्णय करेंगी । कोई भी प्रमाण केवल उस प्रमेय को प्रमाणित या अप्रमाणित कर सकता है जो उसके दायरे में हो ।

वास्तव में जो सुना है उसका तर्क के द्वारा मनन करना चाहिये । अब यदि यह ज्ञान तर्क के द्वारा सिद्ध होता है तो इसका अर्थ है कि यह गलत ज्ञान है और यदि ज्ञान तर्क के द्वारा गलत सिद्ध होता है तो इसका भी अर्थ है कि यह ज्ञान गलत है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान न तो तर्क से सही सिद्ध हो सकता है न ही तर्क से गलत सिद्ध किया जा सकता है ।

यदि जो ज्ञान हमनें प्राप्त किया है वह तर्क से न तो गलत सिद्ध किया जा सके और न ही सही सिद्ध किया जा सके तो इसका अर्थ है कि यह ज्ञान सही है । अतः मनन के द्वारा हमें यह देखना होता है हमारा ज्ञान न तो तर्क से सही और न ही गलत सिद्ध हो सके । वेदान्त का सही ज्ञान वह है जो कि तर्क के द्वारा न तो सही और न ही गलत प्रमाणित किया जा सकता है । यदि हमारा वेदान्त का ज्ञान तर्क के द्वारा सही या गलत प्रमाणित किया जा सकता है तो वह ज्ञान गलत है ।

Illogical उसको कहते हैं जो कि तर्क के द्वारा गलत सिद्ध किया जा सके । अतः वेदान्त के ज्ञान को illogical नहीं कह सकते । Logical उसको कहते हैं जो कि तर्क के द्वारा सही सिद्ध किया जा सके । अतः वेदान्त logical भी नहीं है । Logical and illogica fall within the field of logic.

हम सोचते हैं कि वेदान्त को logic से support किया जाता है । परन्तु यदि किसी वस्तु को logic का support चाहिये तो वह independent प्रमाण नहीं कहा जा सकता । वेदान्त को युक्ति का आश्रय नहीं चाहिये होता है । वेदान्तः स्वतंत्र प्रमाणः अस्ति । यदि वेदान्त परतंत्र प्रमाण होगा तो उसकी प्रामाणिकता पर ही प्रश्न चिह्न लग जायेगा । यह श्रुति प्रमाण है जो कि युक्ति प्रमाण पे आश्रित नहीं है ।

केवल अद्वैत ही इस योग्यता के अनुरूप है द्वैत विशिष्टाद्वैत आदि तर्क से गलत सिद्ध हो जाते हैं अतः वह गलत हैं । अद्वैत न तो तर्क से सही सिद्ध होता है और न ही गलत सिद्ध होता है ।

Advait is neither proved nor disproved by logic hence it is only reality.

अब प्रश्न यह उठता है कि फिर युक्ति की आवश्यकता क्या है वेदान्त में (यह माण्डूक्त कारिका में भी है)? इसके ३ उपयोग हैं –

- युक्ति का प्रयोग दूसरे दर्शनों के खण्डन/निरासार-करने के लिये होता है क्योंकि यह दर्शन तर्क पर आश्रित हैं । इसलिये सांख्य वैशेषिक बौद्ध न्याय जैन – यह सब तर्क पर आधारित हैं और इनको आचार्य शंकर 'तार्किक' कहते हैं । केवल पूर्व मींमांसा तर्क पर आधारित नहीं है । जो दर्शन जिस तरीके को प्रयोग करता है उसकी विचारधार उसी तरीके के अनुसार होती है । जैसे संगीतकार स्वर की भाषा समझता है नो उसको समझाने के लिये स्वर का प्रयोग करना होगा । अतः इन मतों के खण्डन के लिये तर्क का प्रयोग करते हैं ।
- दूसरा प्रयोग है द्वैत मिथ्यात्व को सिद्ध करना । द्वैत प्रत्यक्ष के दायरे में है अतः तर्क के दायरे में भी है । अनात्मा (माया) का मिथ्यत्व तर्क के दायरे में है । यह वैतथ्य प्रकरण में कारिका में किया है । अद्वैत की सिद्धि तर्क से नहीं हो सकता है अतः उसका अलग प्रकरण है । इसलिये वैतथ्य प्रकरण में गौणपाद ने कई तर्क दिये हैं क्योंकि अनात्मा के बारे में बात हो रही है और वह तर्क के दायरे में आता है । अनत्मनः मिथ्यस्व द्वैतस्य अनिर्वचनीय साधनार्थम् – यह दूसरा उपयोग है ।
- कभी कभी आत्मा के प्रकरण में भी तर्क का प्रयोग करते हैं परन्तु यह विशेष प्रकार का होता है ।

  This logic is peculiar logic. To use a logic for reasoning we require 2 things. One is that we have to collect data (लिंग्यं हेतुः) and based on this data we arrive on साध्यं – like smoke on hill. Normally we collect data by pratyaksha pramaana and this is perceptual data and based on this we make inference. This is pure inference (saadhyam).

  In case of atma, we cannot collect any perceptual data because aatma is imperceptual. Therefore we cannot use logic. Still we use logic in peculiar way.

  We can collect some data (hetu) from shruti (not perceptuall) and based on shruti based data we can make some other inferences. These inferences are not pure inferences. Since perceptual data based inferences are called pure on independent inferences. In Vedanta we have shruti based inference since we cannot collect data from perception (atma is beyond it). This is shruti-sammat-yuktiH.

  For eg. Atma sargataH sarvaKaaraNatvaat mridvat. Imagine and inference.

  Idea is kaarana always pervades kaaryam (clay pervades all utensils). So I have a vyaapti – yad yad kaaryam tad tad kaaranasya vyaaptam. Aatma sarva vyapakam sarvakaaranatvaat mridvat.

  Paksha is aatma. Saadhya (inference) is sarvavyapakam. Hetu is 'sarvakaaranatvaat'. Drishtanta is mrit drishtanta. Here the data – sarva kaaranatvat – is not perceptual hence this inference – sarvavyaapakatvam – is not pure inference. Tasmaat etasmaat aatmanah aakaash sambhoota – this is data from shruti.

  So based on this we can not make pure inference like naiyayika. Based on perceptual data we cannot

make any inference about atma, we cannot prove or disprove anything.
We infer things like – if aatma is anaadi then it is anant. If aatma is anaadi then it is ajanmaH.
Wherever we use inferences with regard to aatma those inferences are not perceptual data based they are only shruti based. They are caaled shruti-anugun-yuktayaH shruti-sammat-yuktayah.
Therefore we cannot use our reasoning with a rationalist who does not accept shruti pramana. He cannot accept vedantic logic because for vedantic logic data has come from shruti.
All inferences we use in Vedanta are based on shruti pramana and they are impure inferences. So we cannot convice a person who does not accept shruti.

तत् और त्वम् पद दोनों का जो लक्ष्यार्थ है वह तर्क का अविषय है । त्वं पद का वाच्यार्थ तर्क का विषय है परन्तु तत् पद का वाच्यार्थ तर्क का विषय नहीं है । आत्मा और ब्रह्म दोनों तर्क का विषय नहीं है । अतः तत्पद वाच्यार्थ तत्पद लक्ष्यार्थ त्वम्पद लक्ष्यार्थ तर्क का विषय नहीं है केवल त्वम्पद का वाच्यार्थ ही तर्क का विषय है ।

यदि तत् और त्वं पद के लक्ष्यार्थ दोनों तर्क के विषय नहीं है तो फिर उनका ऐक्यं भी तर्क का विषय नहीं है ।

१९२

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।।१९२।।

विजातीय-देहादि-प्रत्ययरहित-अद्वितीय-वस्तु सजातीय-प्रत्यय-प्रवाहः निदिध्यासनम् ॥

विपरीत भावना (वासना, तादात्म्य, देहादि) निवृत्ति । सजातीय प्रत्ययः (वेदान्त ज्ञान – अहं ब्रह्मास्मि पूर्णोस्मि, असङ्गो) प्रवाहः (निरंतर धारा) ।

सजातीय प्रत्यय – अहं ब्रह्मः, पूर्णः, असङ्गः, शुद्धः

विजातीय – अहं देहः, जीर्णः, पतिः, पुत्रः

सर्वत्र सर्वदा सर्वथा आत्मदर्शनमेव निदिध्यासनम् ॥

१९३

समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पश्चेति।।१९३।।

समाधिः द्विविधः सविकल्पः निर्विकल्पः च इति ॥

क प्रत्ययः बहुव्रीहि को सूचित करने के लिये होता है ।

जिस समाधि में भेद होता है उसको सविकल्प कहते हैं ।

निर्गताः विकल्पाः यस्मिन् सः निर्विकल्पः । वह समाधि जिसमें कोई भेद नहीं रह जाता ।

अष्ट अङ्गों का अङ्गी है निर्विकल्प समाधि । यह निर्विकल्प समाधि के आठ अङ्ग हैं । जो आठवां अङ्ग 'समाधि' है वह निर्विकल्प समाधि है ।

१९४

तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्।।१९४।।

तत्र सविकल्पकः नाम ज्ञातृ-ज्ञान-आदि विकल्प-लय-अनपेक्षया अद्वितीय वस्तुनि तदाकार-कारितायाः चित्त-वृत्तेः अवस्थानम् ॥

विकल्प = यहां भेद रहता है । किसका भेद? त्रिपुटी का भेद रहता है । त्रिपुटी – ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेयम् (ध्यातृ ध्यान ध्येय रूपं) ।

विकल्प लय अनपेक्षया – यहां त्रिपुटी के लय की अपेक्षा नहीं होती । अर्थात ध्यातृ को यह भान होता है कि वह ध्यान कर रहा है और उसके लिये प्रयास या संकल्प हो रहा है (उसके लिये हम प्रयास रत हैं यह भान है) ।

यहां ध्येय है अद्वितीय वस्तु । ध्यातृ है जीव । ध्यान है – अहं ब्रह्मास्मि इति वृत्तेः आवृत्ति । ब्रह्माकार या आत्माकार या अखण्डाकार (तदाकार) कारिता वृत्ति स्थित की जाती है (अवस्थानम् (maintainence, repetition) होता है) ।

यहां पर एक संशय हो सकता है कि ध्यान तो अद्वितीय वस्तु का है फिर विकल्प कैसे दिखाई पड़ रहा है । द्वैत और अद्वैत एक साथ कैसे है । इसको समझाने के लिये आगे उदाहरण दिया है ।

१९५

तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते।।१९५।।

तदा मृत्-मय गज-आदि भाने अपि मृत् भानवत् द्वैतभाने अपि अद्वैतम् वस्तु भासते ।

सविकल्प समाधि का उदाहरण दिया है ।

यदा एक व्यक्ति मिट्टी के बने हुए (मृण्मय, मृत् विकार भूत) हाथी आदि खिलौने (गजादि) के भान में भी अद्वितीयवस्तु के भान की तरह (मृत् भानवत्) द्वैत के भान में भी (द्वैतभानेऽपि) अद्वितीय वस्तु के ध्यान में निरत है (अद्वैतं वस्तु भासते) । वह देख तो नाना प्रकार के खिलौने रहा है पर उसका ध्यान लगा हुआ है उसमें भासित हो रही अद्वितीय वस्तु में । इस प्रकार विकल्प (त्रिपुटी) भान में भी उसको अद्वैत वस्तु का ही भान हो रहा है ।

१९६

तदुक्तम् - "दृशिस्वरूपं गगनोपमं परम् सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् । अलेपकं सर्वगतं यदद्वयम् तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्।।"इति

(उपदेशसाहस्री ७३। १०। १)।।१९६।।

तद् उक्तम् – दृशि-स्वरूपम् गगन-उपमम् परम् सकृत् विभातम् तु अजम् एकम् अक्षरम् । अलेपकम् सर्वगतम् यत् अद्वयम् तदेव च अहम् सततम् विमुक्तम् ओम् – शंकराचार्य ।

अहम् तदेव । बाकी सारे विशेषण हैं तद् के । चैतन्य (दृशि) स्वरूपं आकाश (गगन) की तरह (उपमम्, गगनम् एव उपमा) परम् सदा (सकृत् का अर्थ होता है एक बार अतः यहां अर्थ हुआ कि जो आता जाता नहीं है अतः नित्य है) प्रकाशम् (विभातम्) अजन्मा (अजम्) एकम् विनाशरहित (अक्षरम्) असङ्गम् (अलेपकम्, जो लेपित नहीं होती) सर्वगतम् अद्वयम् हमेशा (सततम्) मुक्तम् (विमुक्तम्) ओंकार का लक्ष्यभूत ब्रह्म अमात्रा (ॐ) ।

निर्लेप से पता चलता है कि द्वैत का भान हो रहा है । हम सारी वस्तुओं को देख रहे हैं और तब कह रहे हैं कि हम इन से अलिप्त हैं अतः द्वैत का भान है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । विद्या विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी । ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ..ब्रह्म कर्म समाधिनः – यह सब इसका उदाहरण हैं। सब द्वैत भान होते हुये भी उस अद्वैत वस्तु में ही चित्त रमण कर रहा है ।

१९७

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्।।१९७।।

निर्विकल्पकः तु ज्ञातृ-ज्ञान-आदि विकल्प लय अपेक्षया अद्वितीय वस्तुनि तद्-आकार-कारितायाः चित्त-वृत्तेः अतितराम् एकीभावेन अवस्थानम् ॥

यहां पर विकल्प के लय की अपेक्षा होती है । अद्वितीय वस्तु में अवस्थानम् है । किस प्रकार – तदाकारकारिता चित्तवृत्ति के अतितराम् एकीभाव से । चित्तवृत्ति भी पूरी तरह लीन हो जाती है अतः ध्याता और ध्यान (चित्त वृत्ति) पूरी तरह ध्येय वस्तु में लीन हो जाती है ।

यहां पर कोई प्रयास नहीं चाहिये हो जाता है ।

जब संकल्प नहीं चाहिये होता है तब अहंकार भी नहीं चाहिये होता है । अतः ध्याता भी लीन हो जाता है । निवात दीपवत् स्थिति होती है । सूक्ष्म वृत्ति इस अवस्था में रहती हैं । परन्तु उस समय भान नहीं होता क्योंकि अहंकार नहीं होता । बाद से स्मरणात् अनुमीयते । अहंकार के अभाव में जो वृत्ति होती है उसको सूक्ष्म वृत्ति कहते हैं । और उसका भान बाद में अहंकार आने पर होता है ।

१९८

तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीय- वस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते।।१९८।।

तदा तु जल-आकार-कारित-लवण-अनवभासेन जलमात्रा-अवभासवत् अद्वितीय वस्तु आकार-कारित चित्तवृत्ति अनवभासेन अद्वितीय वस्तु मात्र अवभासते ।

यहां पर द्वैत का भान नहीं होता यद्यपि वह होता है । जैसे नमक मिले पानी को देखने से नमक भासित नहीं होता । यहां द्वैत है (नमक, पानी) परन्तु द्वैत का भान नहीं है केवल जल दिख रहा है ।

नमक भी जलाकार हो गया है (solid नहीं रह गया है) । नमक – चित्तवृत्ति, जल – ब्रह्म । नमक जलाकार हो गया है और दिखता नहीं है । चित्तवृत्ति ब्रह्माकार हो गई है और उसका भान नहीं होता । जल मात्र अवभासित होता है ।

इसी प्रकार अद्वितीयवस्तु-आकार की वृत्ति भासित नहीं होती (अनवभासित) अतः अद्वितीत वस्तु ही भासित होती है (मात्र अवभासते) ।

चित्त वृत्ति उपस्थित है जैसे नमक उपस्थित है पर भासित नहीं होती । अवभासते का अर्थ है भासित होती है परन्तु हैं दोनों ।

१९९

ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति । उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः।।१९९।।

ततः च अस्य सुषुप्तेः च अभेद शङ्का न भवति । उभयत्र वृत्ति अभाने समाने अपि तत् सत्-भाव असत्-भाव-मात्रेण अनयोः भेदोः उपपत्तेः ।

ततश्च – उपर दिये हुए कारण से । निर्विकल्प समाधि की (अस्य) और सुषुप्ति की (सुषुप्तेः) समानता (अभेद) नहीं होती ।

इन दोनों के (उभयत्र) वृत्ति का भान नहीं (वृत्ति अभाने) है इस प्रकार की समानता होते हुए भी (समाने अपि) यह दोनों स्थिती समान नहीं है । सुषुप्ति में अखण्डाकार वृत्ति (तद्) का भान नहीं होता है क्योंकि वह है ही नही (असत् भाव) और समाधि में अखण्डाकार वृत्ति (तद्) का भान नहीं होता क्योंकि वह सूक्ष्म है (सत् भाव) अहंकार रहित है । इस कारण से ही इन दोनों में (अनयोः) भेद है (भेदः) ।

यहां 'तत् सत्-भाव असत्-भाव-मात्रेण' में 'तत्' का अर्थ है – अखण्डाकार वृत्ति ।

२००

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः।।२००।।

इस निर्विकल्प समाधि के (अस्य) ८ अङ्ग हैं । यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि (सविकल्प) ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २.२९ पा० योगसूत्र ॥

२०१

तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" ॥२०१॥

पा० योगसूत्र० २.३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह यम कहलाते हैं ।

यम – यच्छति । काबू करना । न करना ।

व्यास की टीका में इनकी परिभाषा दी है ।

अहिंसा – सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानां अनभिद्रोहः ।

सत्यम् – यथार्थे वाङ्ग मनसे ।

अस्तेयम् – अशास्त्र पूर्वकं द्रव्याणां परतः अ

यह सामान्य धर्म है । सब जाति वर्ण और आश्रम के लिये यह करना है । जो एक जाति या आश्रम के लिये विशेष होता है उसे 'विशेष धर्म' कहते हैं ।

२०२

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।२०२।।

यह २.३२ सूत्र है पातञ्जलि का ।

शौच दो प्रकार के होते हैं । बाह्य शौच और अभ्यन्तर शौच ।

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् ।

मृत् और जल से जो नहाना हाथ धोना आदि जो सफाई करते हैं वह hygine। 'मेध्यम्' कहते हैं जो physically and spiritually दोनों प्रकार से लेना सही है । जो शास्त्र के द्वारा निषेध नहीं है । जो हम भगवान को नैवेद्य के रूप में चढ़ा सकते हैं । प्याज अमेध्यं में आता है क्योंकि शास्त्र इसका निषेध करते हैं । उसका अभ्यवहरणम् कहलाता है बाह्य शौच ।

आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम् । चित्त मलों (काम क्रोध आदि) का आक्षालनम् (धोना) ।

सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा । जो साधन हमारे पास हैं (संनिहित साधनात्) उनसे अधिक प्राप्ति की (अधिकस्य) इच्छा न करना (अनुपादित्सा) । यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं ।

तपः द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च । तितिक्षा ।

स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । मोक्षशास्त्र पढना या ॐ जप करना । सामान्यतः वेद पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है । अध्यायः माने वेद भी होता है । अधीयते इति अध्यायः । स्वस्य वेदः शाखा वा इति स्वाध्यायः ।

ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् ॥ ईश्वरार्पणम् ॥

व्यास नें अपनी टीका में आखिरी तीन तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधान को क्रिया योग कहा है जो कि कर्मयोग है ।

इनको प्रतिदिन सर्वदा पालन करना है ।

२०३

करचराणदिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि।।२०३।।

कर-चरण-आदि संस्थान विशेष लक्षणानि पद्म-स्वस्तिकादीनि आसनानि ॥

आसन कहते हैं कर और चरक का विशेष प्रकार से रखना (संस्थान) । जैसे पद्मासन स्वस्तिकासन आदि । ध्यान हमेशा बैठकर ही होता है (ब्रह्मसूत्र) ।

पानञ्जलि के अनुसार 'स्थिर सुखमासनम्' ।

२०४

रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः।।२०४।।

रेचक-पूरक-कुम्भक-लक्षणाः प्राण-निग्रह-उपायाः प्राणायामः ।

प्राण शक्ति के निग्रह (नियंत्रण) में करने के उपाय को प्राणायाम कहते हैं । श्वास के नियंत्रण से पञ्च प्राणों का नियंत्रण करते हैं । आयाम का अर्थ होता है निग्रह या नियंत्रण । यह रेचक पूरक कुम्भक लक्षण होता है ।

२०५

इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।।२०५।।

इन्द्रियों का अपने अपने विषय से अलग करना प्रत्याहार है । आह्र धातु का एक अर्थ होता है खाना और दूसरा होता है अलग करना । प्रति का अर्थ होता है अपनी तरफ । अतः प्रति आहरणम् – अपनी तरफ खींचना । कहां से – स्व स्व विषय से । यह दम है ।

२०६

अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा।।२०६।।

अद्वितीय वस्तुनी अन्तः इन्द्रियधारणं धारणा । अन्तरिन्द्रिय होती है मन या चित्त । अद्वितीय वस्तु को अपने मन में स्थापित करना धारणा कहलाता है । पतञ्जलि के अनुसार किसी भी चक्र आदि में ध्यान करना धारणा होता है । पर अद्वैत में अद्वितीय ब्रह्म को धारण करना होता है ।

२०७

तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्।।२०७।।

तत्र अद्वितीय वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रिय वृत्ति प्रवाहः ध्यानम् ॥

अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में अन्तःकरण की वृत्तियों का टूटफूट के साथ (विच्छिद्य) प्रवाह ध्यान है ।

Fixing the mind is dhaaranaa and trying to continue to fix is dhyaana. Focussin is dhaarana and trying to maintain that focus is dhyaanam.

धारणा के समय एक वृत्ति होती है जो की धारण की जाती है फिर ध्यान में उस वृत्ति को लगातार स्थापित करने का प्रयास करना ध्यान कहलाता है जाता है । कुछ देर के लिये वृत्ति स्थिर रहेगी फिर दूसरी वृत्तियां आने लगेंगी अतः उन दूसरी वृत्तियों को हटाकर फिर कुछ देर के लिये प्रवाह चलाता – यह जो प्रयास होता है वह ध्यान कहलाता है । जब अविरल प्रवाह हो जाता है तो उसको समाधि कहते हैं । जब मन कहीं नही भटकता तब वह समाधि होती है ।

एकाग्रता की कमी के कारण चित्तवृत्तियां परमात्मा में स्थिरता से नहीं लगती । चित्त बार बार अन्यत्र चला जाता है । वहां से लाकर उसे परमात्मा में फिर लगाना यह ध्यान कहलाता है । समाधि में ऐसा विक्षेप नहीं रह जाता है । अभ्यास और वैरग्य के साथ विच्छिद्य हट जाता है और अविच्छिद्य प्रवाह हो जाता है ।

२०८

समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव।।२०८।।

समाधिः तु उक्तः सविकल्पहः एव ॥

समाधि तो पूर्वोक्त सविकल्प समाधि है ।

२०९

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति।।२०९।।

एवम् अस्य अङ्गिनः निर्विकल्पकस्य लय-विक्षेप-कषाय-रस-आस्वाद लक्षणाः चत्वारः विघ्नाः सम्भवन्ति ॥

(अस्य) इस (अङ्गिनः) अङ्गी (निर्विकल्पस्य) निर्विकल्पसमाधिके (चत्वारः) चार (लक्षणाः) प्रकार के (विघ्नाः) विघ्न (सम्भवन्ति) हो सकते हैं – वह हैं

- लप
- विक्षेप
- कषाय
- रसास्वाद

२१०

लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा।।२१०।।

लयः तावत् अखण्ड-वस्तु अनवलम्बनेन चित्त-वृत्तेः निद्रा ॥

तावत् – प्रथमम (सबसे पहले) ।

तद्-तद् अवलम्बन का अर्थ है तद्-तद् आकार वृत्ति ।

अखण्डवस्तु ब्रह्म का (अनवलम्बनेन) अवलम्बन न पाने पर (चित्तवृत्तेः) चित्त वृत्ति का (निद्रा) निद्रा में चले जाना लय होता है । हमारी चित्तवृत्ति का प्रतिदिन निद्रा में जाने का अभ्यास होता है । प्रमाद और थकान के कारण इस प्रकार निद्रा की तरफ जाना स्वाभाविक होता है यदि अखण्ड वस्तु का आलम्बन नहीं मिला । निद्रा भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही होती है । योग शास्त्र में भी निद्रा एक प्रकार की चित्त वृत्ति बताई है – अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति । वेदान्त में यह अविद्या या कारणशरीर वृत्ति कही जाती है ।

तमो गुण की अधिकता के कारण यह होता है । प्रमाद और थकान के कारण ।

२११

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः।।२११।।

अखण्ड-वस्तु अनवलम्बनेन चित्तवृत्तेः अन्य अवलम्बनम् विक्षेपः ।

अखण्डवस्तु ब्रह्म का (अनवलम्बनेन) अवलम्बन न पाकर (चित्तवृत्तेः) चित्तवृत्ति का (अन्य) दूसरा (अवलम्बनम्) आलम्बन आ जाना 'विक्षेप' है । चित्त में अखण्डाकार वृत्ति न होकर कोई और वृत्ति का जाती है ।

यह रजोगुण की प्रधानता के कारण होता है ।

२१२

लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेर्रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः।।२१२।।

लय-विक्षेप-अभावे अपि चित्तवृत्तेः राग-आदि-वासनया स्तब्धीभावात् अखण्डवस्तु अनवलम्बनं कषायः ॥

(लय-विक्षेप-अभावे अपि) लय विक्षेप आदि विघ्न न रहने पर भी (राग-आदि-वासनया) राग आदि वासना के कारण (स्तब्धीभावात्) स्तब्धी भाव आ जाने पर (अखण्डवस्तु) अखण्डवस्तु का (अनवलम्बनं) आलम्बन न हो पाना 'कषाय' कहलाता है । स्तब्ध कहते हैं जब स्तम्भ की तरह जडवत हो जाता है – mind getting stuck. Literally it means impurity.

२१३

अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः । समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।।२१३।।

अखण्ड-वस्तु अनवलम्बनेन अपि चित्तवृत्तेः सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनम् रसास्वादः ॥ समाधि आरम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा ॥

अखण्डवस्तु ब्रह्म का (अनवलम्बनेन) अवलम्बन न पाकर (चित्तवृत्तेः) चित्तवृत्ति का (सविकल्पक-आनन्द) सविकल्पसमाधि के सुख का आस्वादन करना रसास्वाद है । अथवा तो निर्विकल्प समाधि के आरम्भ होने पर भी सविकल्प समाधि के सुख का आस्वादन करते रहना 'रसास्वाद' है । मन में एकाग्रता आते ही सुख अनुभव होने लगता है । आत्म चैतन्य के निकट पहुंचने पर यह सुख बढ़ जाता है । प्रायः साधकों को इस सुख में आसक्ति हो जाती है । कोई भी आनन्द आनन्दमय कोश के कारण होता है जो कि आत्मा के मन में प्रतिबिम्बित होने के कारण होता है । मन में कोई और विघ्न न होने के कारण आत्मानन्द इसमें पूरी तरह से प्रतिबिम्बित होता है और यह विषयानन्द हो जाता है जिसमें साधक आसक्त हो जाता है ।

२१४

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते।।२१४।।

अनेन विघ्न-चतुष्टयेन विरहितम् चित्तम् निर्वात-दीपवत् अचलं सत् अखण्ड-चैतन्य-मात्रम् अवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिः इति उच्यते ॥

इन चार विघ्नों से बचने पर चित्त निवात दीप की भांति अचल हो जाता है और जब वह अखण्ड चैतन्य में स्थित हो जाता है तब उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं ।

२१५

यदुक्तम् - "लये सम्बोधयेच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः । सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्।। नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् "इति च (गौडपादकारिका ३ । ४४- ४५) "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता "इति च (गीता ६ - १९) ॥२१५॥

लये सम्बोधयेत् चित्तम् विक्षिप्तम् शमयेत् पुनः । सकषायं विजानीयात् समप्राप्तम् न चालयेत्।। न आस्वादयेत् रसम् तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ॥

यहां दो हेतु सिद्ध हो गये – एक तो प्रमाण हो गया और दूसरे इन समस्याओं का समाधान (परिहार) भी बता दिया ।

(लये सति) लय अथवा निद्रा की स्थिति में जाने पर (चित्तम् सम्बोधयेत्) चित्त को जगाना चाहिये । कैसे – (निद्राशेषं) कुछ नींद बची हुई है ठीक से नींद पूरी नहीं हुई है ॥ (बहु-अशनम्) खाना ज्यादा खा लिया है – मध्य प्रदेश भारी होगा तो उत्तर प्रदेश काम नहीं करेगा । (अजीर्णादि) बहुत जाता आराम या कठिनाई हो जाने पर ॥ अतः निद्राशेष बस्वशनम् अजीर्ण आदि दोष निवारणम् ॥

विक्षिप्तं पुनः शमयेत् ॥ मन को पुनः शान्त करो । "यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् । ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥" गीता ६-२६ ॥ जब भी मन बाहर जाये उसे आत्मा में ले आओ । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ परन्तु भगवान नें अभ्यास और वैराग्य की परिभाषा नहीं दी है ।

गौडपाद नें कारिका में परिभाषा दी है – दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् । अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ३.४३ ॥

For this the Bhashya is -

कः स उपाय इति, उच्यते — सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेव इत्यनुस्मृत्य कामभोगात् कामनिमित्तो भोगः इच्छाविषयः तस्मात् विप्रसृतं मनो निवर्तयेत् वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वम् इत्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतः अनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति अभावात् ॥

दोष बुद्धि से काम भोग से निवृत्त हुआ जा सकता है । जिस भी परिस्थिति वस्तु या व्यक्ति का मन अनुस्मरण करे उसमें दोष बुद्धि दुःख देखो । जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् । इसको वैराग्य कहते हैं । दूसरा तरीका है "अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति" (सर्वमनुस्मृत्य) सबके स्मरण में (अजम्) ब्रह्म का ही दर्शन करो (जातम्) जगत् कभी नहीं देखना चाहिये । हर जगह ब्रह्म का दर्शन करने पर विषय का निराकरण करना अभ्यास कहलाता है । पहले दोष और फिर मिथ्यात्व का दर्शन करना । वैराग्येण अनात्मनः दोष दर्शनम् अभ्यासेन अनात्मनः अभाव दर्शनम् ॥

सकषायम् विजानीयात् । कषायेन सः वर्तते इति सकषायेन । जब मन स्तब्ध हो जाये अथवा वहीं पर रुक जाये तो (विजानीयात्) समझ जाओ की यह कषाय की स्थिति है । यह मन के सूक्ष्म संस्कार हैं समय आने पर यह ऊपर सतह पर आते हैं । इनको विक्षेप में परिवर्तित कर दो और फिर उसका निवारण कर दो ।

समप्राप्तम् न चालयेत् । जब मन समत्व की ओर जा रहा है तब उसको परेशान नही करना चाहिये । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

न आस्वादयेत् रसं तत्र ॥ वहां पर रस की तरफ मत देखो और अनुभव की तरफ नहीं देखो । इसको भी मन के एक अनुभव की तरफ देखो जो आये हैं और चले जायेंगे । सारे अनुभव अनात्मा ही होता है । निःसङ्गः प्रज्ञः भवेत । विवेक बुद्धि के द्वारा उनसे निःसङ्ग रहो । उनपर निर्भर न रहो । यह विषयासक्ति है ।

योगी मे मन को निवातस्थः दीपः से उपमा किया है । यहां वात – चार विघ्न है ।

२१६

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते ॥२१६॥

अब श्रवणादि अभ्यास का फलं बताया जा रहा है ॥

अथ = साधन विचार अनन्तरं । जीवनमुक्ति फल है । उनके लक्षण बताये जा रहे हैं ।

२१७

जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्व-रूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनाम् अपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः ॥२१७॥

जीवन्मुक्तः नाम स्वस्वरूप-अखण्ड-ब्रह्म-ज्ञानेन तद्-अज्ञान-बाधन-द्वारा स्वस्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मणि साक्षात्कृते अज्ञान-तत्कार्य-सञ्चितकर्म-संशय-विपर्यय-आदीनाम् अपि बाधित्वात् अखिल-बन्ध-रहितः ब्रह्मनिष्ठः ॥

जीवन्मुक्तः नाम ब्रह्मनिष्ठः ॥ ब्रह्मनिष्ठा का अर्थ है 'अहं ब्रह्मस्मि' इति ज्ञान में निष्ठा । वास्तव में तो पूरा जगत् और सारे भूतादि सब ब्रह्म में हि अधिष्ठित हैं सारी सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म ही है । अतः ज्ञान निष्ठा को ब्रह्म निष्ठा समझना चाहिये ।

यह ब्रह्म निष्ठा कैसे आती है चेत् स्वस्वरूप-अखण्ड-ब्रह्म-ज्ञानेन – अखण्ड ब्रह्म को जान कर जो कि अपना स्वरूप है । (तद्) स्वस्वरूप अखण्ड ब्रह्म अज्ञान के (बाधन) निषेध के द्वारा । इस निषेध के द्वारा (स्वस्वरूप-अखण्ड-ब्रह्मणि) ब्रह्म का (साक्षात्कृते) अपरोक्षज्ञान हो जाता है ।

ज्ञान और अनुभूति में क्या अन्तर है? अनुभूति कहां होती है?

अज्ञान और उसका कार्य – सञ्चित कर्म, संशय, विपर्यय (विपरीत भावना, ई धातु - विपर्येति, विपरीत जाना, देहात्मबुद्धि अनात्मबुद्धि मिथ्यात्व बुद्धि) यह सब बाधित हो जायेंगे । श्रवण से अज्ञान निवृत्ति, मनन से संशय निवृत्ति और निदिध्यासन से विपर्यय निवृत्ति ।

सारे बन्धनों से मुक्त ।

२१८

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।" इत्यादिश्रुतेः (मुण्ड उ २ । २ । ८) ॥२१८॥

श्रुति प्रमाण – भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

हृदयग्रन्थि = अज्ञान अथवा काम । सर्वसंशयः – ईश्वर (क्या हम वह ईश्वर से एक हैं, क्या ईश्वर केवल निमित्त कारण है जैसा कि नैयायिक कहते हैं या दोनों है) जगत् (क्या यह जगत् मिथ्या है अथवा सत्य है) जीव (क्या जीव ब्रह्म ऐक्य है) विषय सारे संशय ।

(कर्माणि) सारे सञ्चित कर्म (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं (परावर) ब्रह्म हो (दृष्टे) अपरोक्ष रूप से जानकर ।

परावर = पर-अवर = परम् का अर्थ है कारण रूप वर्तमान और अवरम् का अर्थ है कार्य रूपेण वर्तमान अथवा परम् – निर्गुण रूपेण वर्तमानम्, अपरम् – सगुण रूपेण वर्तमानम्, परम् – उत्तम पुरुष रूपेण वर्तमानम्, अपरम् – क्षराक्षर पुरुष रूपेण वर्तमानम् ॥

अतः अज्ञान, सञ्चित कर्म, और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं जैसा की ऊपर बताया है ।

२१९

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेद्रियग्रामेणाशनापिपासाशोकमोहादि-भाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियामाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यते । यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति ॥२१९॥

अयं तु व्युत्थानसमये मांस-शोणित-मूत्र-पुरीष-आदि-भाजनेन शरीरेण आन्ध्य मान्ध्य अपटुत्व आदि भाजनेन इन्द्रिय ग्रामेण अशना पिपासा शोक मोह आदि भाजनेन अन्तःकरणेन च पूर्व पूर्व वासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञान-अविरुद्ध-आरब्ध-फलानि च पश्यन् अपि बाधितत्वात परमार्थतः न पश्यते । यथा इन्द्रजालम् इति ज्ञानवान् तत् इन्द्रजालम् पश्यन् अपि परमार्थम् इदम् इति न पश्यति ॥

यहां यह बताया कै कि अद्वैत, द्वैत की अनुपस्थिति नहीं होती है अपितु सारे द्वैत में रहते हुए अद्वैत होता है ।

संसार में व्यवहार करते हुए ज्ञानी परमार्थ की दृष्टि से कुछ नहीं करता न देखता है यथा जो व्यक्ति यह जानता है कि यह इन्द्रजाल है वह व्यक्ति इन्द्रजाल को देखते हुये भी नहीं देखता है ज्ञान की दृष्टि से । जैसे ही यदि कोई जानता है कि मृगतृष्णा की सत्यता को जानने के बाद मार्ग में जल को देखता हुआ भी नहीं देखता क्योंकि वह सत्य जानता है ।

अहंकार नष्ट नहीं होता केवल बाधित होता है क्योंकि अहंकार यदि वास्तव में नाश हो गया तो ज्ञानी कोई व्यवहार नहीं कर पायेगा (जैसा सुषुप्ति में होता है – अहंकार पूरी तरह लय हो जाता है) । भर्जित बीजवत् । जैसे भुंजा हुआ बीज खाना बनाने के काम आता है परन्तु उससे नया पौधा अङ्कुरित नहीं हो सकता । इसी प्रकार भर्जित अहंकार उपदेश-प्रवचन आदि के लिये पर्याप्त होता है परन्तु उससे नये कर्म का निर्माण नहीं अतः कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःखादि अङ्कुरित नहीं होते हैं । ज्ञान होते के बाद भी प्रारब्ध के कारण व्यवहार चलता रहता है अतः स्थूल-सूक्ष्मशरीर (अहंकार) चलता रहता है । ज्ञानी जानता है कि अहंकार केवल व्यवहार के लिये है । केवल प्रारब्ध क्षय के बाद अहंकार नष्ट होता है – इसको विदेहमुक्ति कहते हैं ।

व्युत्थानसमये का अर्थ है समाधि से उठने के समय । अथवा जब समाधि में नहीं है ।

यह जीवनमुक्त व्युत्थानसमये (कर्माणि पश्यन्नपि) संसार में व्यवहार करते हुये कर्माणि फलानि च पश्यन्नपि न पश्यति । जगत् को देखते हुये भी नहीं देखता है ।

- कर्माणि फलानि च पश्यन्नपि – व्यवहार करते हुये । किसके द्वारा करते हुए इति चेत् शरीरेण, इन्द्रिय-ग्रामेण अन्तःकरणेन ।
    - किस प्रकार के शरीर के द्वारा (क्योंकि विशिष्टाद्वैत में इस प्रकार है कि वैकुण्ठ जाने के बाद अप्राकृत शरीर मिल जाता है) इति चेत् वही पुराना शरीर जो कि (भाजन) बर्तन है सारे कचरे का – मांस शोणित मूत्र पुरीशं (मल) आदि
    - किस प्रकार के इन्द्रिय इति चेत् (आन्ध्य) अन्धापन (मान्ध्य) color-blind or half blind, मन्दता, (अपटुत्व) पटुता आदि के (भाजनेन) पात्र जो कि (इन्द्रिय) इन्द्रियों का (ग्रामेण) समूह है । ज्ञान के बाद भी सारी इन्द्रियां वैसे ही रहेंगी यह अर्थ है । यदि कोई अन्धा था तो वह अन्धा ही रहेगा । यदि को मन्धा था तो वह उस प्रकार ही रहेगा । अपटुता का अर्थ है कि यदि किसी इन्द्रिय में कोई कमी थी और वह उस के कारण उस इन्द्रिय का पूरा प्रयोग नहीं कर पाता था तो अब भी वैसा ही रहेगा ।
    - किस प्रकार का अन्तःकरण इति चेत् (अशना) भूख (पिपासा) प्यास शोक मोह आदि (भाजनेन) के पात्र (अन्तःकरणेन) अन्तः करण । यहां अन्तःकरण में प्राणमय भी गणित है ।
    - किस प्रकार के कर्म इति चेत् (पूर्वपूर्व वासनया) पूर्व वासना के द्वारा (क्रियमाणानि - आगामी) किये जाने वाले । व्यक्ति कि रुचि के अनुसार उसके कर्म होंगे जैसे मद्रासी ज्ञानी इडली खायेगा और उत्तर का ज्ञानी पराठा ही खायेगा । इन्द्रियस्य इन्द्रिस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ परन्तु तयोः न वशम् आगच्छेत् । ज्ञान के बाद भी वैसा ही स्वभाव रहेगा । परन्तु दुर्वासना और अधर्मवासना और बुरी वासना नहीं होगीं क्योंकि साधक अवस्था में वह सब हटाई जा चुकी हैं और अब ज्ञानी अवस्था में केवल शुभ वासना बची है । यह कर्म आगामी कर्म कहलाते हैं और इनमें कुछ आगामी फल तो कर्म देंगे और कुछ नहीं देंगे । जो देगें वह तो नलिनिदलगत् जलवत कोई प्रभाव नहीं डालेंगे (कोई सम्बन्ध नहीं होगा उनसे ज्ञानी का) और जो नहीं देंगे वह नष्ट हो जायेंगे विदेहमुक्ति पर क्योंकि कोई सञ्चित कर्म नहीं बचें हैं (तत्त्वबोध में देखना चाहिये)। समग्रं प्रविलीयते ।
    - किस प्रकार के फल इति चेत् – जो प्रारब्ध कर्म हैं जिनका फल (भुज्यमानानि) भोगा जा रहा है । आरब्धफलानि (प्रारब्ध कर्म, आरब्धम् फलम् येषाम् तानि कार्माणि, बहुव्रीहि) । ननु सञ्चित कर्म और आगामि कर्म नष्ट हो जाते हैं पर प्रारब्ध कर्म नष्ट क्यों नहीं होता इति चेत् – एक तो कारण यह है कि मुक्त इषुवत् (क्योंकि प्रारब्ध वह तीर है जो चलाया जा चुका है मुक्त हो चुका है । उसने फल देना आरम्भ कर दिया है। जैसे बन्द होने के बाद भी पंखा घूमता रहता है) । दूसरा कारण है क्योंकि यह प्रारब्ध ज्ञान-अविरुद्ध है क्योंकि इसी प्रारब्ध के कारण तो मुक्ति मिली है । इसी प्रारब्ध के कारण अध्यात्म के देश भारत में जन्म मिला है मनुष्यशरीर मिला है और मुमुक्षुत्व जागृत हुआ और महापुरुषों का सङ्ग प्राप्त हुआ । जो विरुद्ध हैं उनका ही नाश होता है परन्तु प्रारब्ध तो अविरुद्ध हैं इनकी वजह से ही ज्ञान मिला है ।
- न पश्यति । यदि प्रारब्ध का नाश नहीं हुआ तो सुख दुःख भी होंगे और संसार भी रहेगा इसलिये कहा है कि देखते हुए भी नहीं देखता । सारे अनुभवों के होते हुए भी 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' के भाव से नलिनिदलगत उनको भोगते हुए उनसे लिप्त नहीं होता – पश्यन् श्रृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् नैव किञ्चित करोमि ।

न पश्यति - से सन्देह आ सकता है अतः इसलिये कहा गया है कि परमार्थतः न पश्यति । परमार्थ की दृष्टि से नहीं देखता । "मोह मूल परमारथ नाहि" – तु० रा० ।

कुतः न पश्यति इति चेत् बाधितत्वात् । क्योंकि निषेध हो चुका है ।

अब इसके लिये श्रुति प्रमाण दिया है ।

२२०

"सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव "इत्यादिश्रुतेः ॥२२०॥

सचक्षुः अचक्षुः इव सकर्णः अकर्णः इव ॥

(अचक्षुः) (सचक्षुः) व्यवहारिक दृष्ट्या मेरे नेत्र हैं (इव) जैसे (मिथ्या अर्थ है इव का) । अकर्णः सकर्णः इव ॥

२२१

उक्तञ्च - "सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।। तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।" इति (उपदेशसाहस्री १०.१३) ॥२२१॥

सुषुप्तवत् जाग्रति यः न पश्यति द्वयम् न पश्यन् अपि च अद्वयत्वतः ॥ तथा च कुर्वन् अपि निष्क्रियः च यः सः आत्मवित् न अन्यः इतीह निश्चयः ॥

(यः) जो (जाग्रति) जाग्रत अवस्था में (द्वयं) द्वैत को (न पश्यति) नहीं देखता । कैसे? (सुषुप्तवत्) जैसे सुषुप्ति में द्वैत का भान नहीं होता । परन्तु सुषुप्ति में तो लय हो जाता है द्वैत का इसलिये नहीं दिखता तो क्या जाग्रति में भी वैसा ही होता है? इसलिये शंकराचार्य कहते हैं - (पश्यन् अपि) देखते हुये भी, अतः जगत् वैसा ही दिखता है परन्तु फिर भी नहीं दिखता (इन्द्रजाल वत्) क्योंकि अद्वैत की समझ के कारण । अज्ञ और ज्ञानी दोनों जगत् को एक ही तरह देखते हैं परन्तु अज्ञ के हिसाब से दृश्य सत्य सत्ता है और दृग का पता नहीं परन्तु ज्ञानी के अनुसार दृष्य जो है वह दर्पणदृश्यमान नगरी तुल्य है और दृग सत्य है ।

(तथा) उसी प्रकार (कुर्वन् अपि) कार्य करता हुआ भी (निष्क्रियः) निष्क्रिय है । कर्मण्यकर्म यः पश्येत । वह ही ज्ञानी है (न अन्यः) और कोई नहीं । अनात्मश्रीविगर्हणं में शंकराचार्य नें कहा है ।

२२२

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा ॥२२२॥

पीछे कहा था कि पूर्वपूर्व वासनया ज्ञानी व्यवहार करता है । उसपर और प्रकाश डाल रहा है ।

जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक सारे व्यवहार और कर्म कामना या वसना के कारण होते हैं । यद् यद् करोति जन्तुः तद् तद् ज्ञानस्य चेष्टितम् ॥ अब ज्ञानी जब व्यवहार करता है तो उसका क्या हेतु है यह प्रश्न आ सकता है ।

इसका उत्तर यह है कि जो कर्म चलते आ रहे हैं वह ही आगे चलते रहेंगे । यह इच्छा के कारण नहीं है । जिस क्षेत्र में पहले कार्य कर रहा था उसी क्षेत्र में आगे भी कार्य चलता रहेगा । कोई गलत कार्य होगा नहीं क्योंकि साधक अवस्था में सारे निषिद्ध और काम्य कर्म का त्याग हो चुका है । सारे कार्य जो वर्तमान में क्रियमाण हैं वह वैदिक धर्म के अनुसार शास्त्रगत् ही होते हैं । ज्ञानी सारे शुभाशुभ कर्मों कों त्याग भी कर सकता है यह उसपर निर्भर है ।

कठ में भी कहा है कि दुश्चरित से निकले बिना ज्ञान नहीं हो सकता । नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ - काठकोपनिषत् १-२-२४

दुश्चरितात् अविरतः, अशान्तः, असमाहितः, अशान्तमानसश्च साधकः एनम् आत्मानं प्रज्ञानेन ज्ञातुं न शक्नोति ।

आत्मज्ञानं तु अत्यन्तं सुलभमेव, तथापि तस्य अनुत्पत्तौ अनेके दोषाः भवन्ति । एते सर्वेऽपि दोषाः मानसा एव । एतैः

दोषैः युक्तस्य मनसः 'अशुद्धं मनः' इति नाम । एतेभ्यः दोषेभ्यः मुक्तमेव 'शुद्धं मनः' । अध्यात्मसाधकैः एतेषां मानसदोषाणां

परिहाराय प्रयत्नः कर्तव्यः ॥

या तो ज्ञानी धार्मिक कर्म करेगा या फिर सारे कर्म त्याग देगा और पारिव्राजक के समान केवल शरीर यात्रा के लिये कर्म करेगा ।

जैसे शंकराचार्य नें शुभवासना अनुवृत्ति के कारण धर्म की स्थापना की और लोक कल्याण के लिये इतने कार्य किये । शुभ वासना ज्ञान के विरुद्ध नहीं होती । द्वैत में व्यवहार करते हुये पारमार्थिक रूप से मिथ्यत्व बुद्धि रखता है । जैसे पूजा करते समय – हम भी ब्रह्म हैं और आप भी ब्रह्म हैं और हमारे इतने सारे नाम रूप के कारण आप की कीर्ति का बखान कर रहे हैं और आनन्द ले रहे हैं ।

(ज्ञानात् पूर्वं) ज्ञान के पूर्व (आहार विहार आदिनाम्) आहार विहार आदि के रूप में (विद्यमानानाम्) विद्यमान जो भी कर्म है उसकी (अनुवृत्तिवत्) अनुवृत्ति होती रहती है । यह शुभ वासना की ही अनुवृत्ति होती है क्योंकि अशुभ तो है ही नहीं । दूसरी संभावना यह है कि शुभ और अशुभ दोनों से (औदासीन्यम्) उदासीन भी हो सकता है ।

ज्ञानी की दृष्टि में जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई अन्तर नहीं है यह अन्तर केवल दूसरों की दृष्टि से होता है । ज्ञानी की दृष्टि से प्रारब्ध भी मिथ्या होते हैं वह भी अन्य लोगों कि दृष्टि से ही होते हैं । ज्ञानी तो कृतार्थ होता है । कृत का अर्थ है प्राप्तम् । अर्थ का अर्थ होता है चारों पुरुषार्थ परन्तु कृतार्थ तभी होता है जब मोक्ष की प्राप्ति हो जाये क्योंकि अन्य तीनों पुरुषार्थ तो अनित्य हैं । अपि च एक जीवन मुक्त व्यक्ति नें मोक्ष प्राप्त कर लिया है परन्तु उसके पास धन तो है नहीं अतः उसके पास काम और अर्थ पुरुषार्थ तो हैं नहीं तो फिर वह कृतार्थ कैसे हुआ? इसपर भगवान कृष्ण कहते हैं - यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ मोक्ष पुरुषार्थ के मिल जाने पर बाकी पुरुषार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ।

२२३

तदुक्तम् । - "बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचराणं यदि । शुनां तत्त्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।।" इति (नैष्कर्म्यसिद्धिः ४ । ६२)

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।।)" इति च (उपदेशसाहस्री ११५) ॥२२३॥

अशुभ वासना की अनुवृत्ति होने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि साधक स्तर पर सारी अशुभ वासना या अशुभ आचार (यथेष्टाचरणं) को त्याग कर दिया होगा तभी उसका चित्त निर्मल हो सकता है अन्यथा कभी नहीं हो सकता । पिछले श्लोक की टिप्पणी में देखना चाहिये ।

यथेष्टाचरणम् = यथा इष्ट तथा आचरणम् = पापाचरणम् क्योंकि इच्छा तो वासना या प्रकृति के अनुरूप होती हैं । यथेष्टाचरणम् अपनी वासना या प्रकृति के अनुसार होता है इनको प्राकृत जन कहते हैं – जैसे पशु ।

साधना अवस्था में प्राकृत स्थिति से संस्कृत स्थिति प्राप्त हो जाती है (संस्कार भी इसलिये ही होते हैं) । शास्त्रविहित आचार करने से शास्त्रसंस्कार आते हैं और जो वासना भी होती है शास्त्रवासना में परिवर्तित हो जाती हैं । अतः बाकी सारी वासनाओं को साधककाल में शास्त्रवासनाओं में परिवर्तित कर दिया जाता है । यह शास्त्रवासनाओं कि अनुवृत्ति ज्ञानी मे होती है । अतः ज्ञानी सर्वदा संस्कृत होता है । इसलिये हमारे यहां आचार के बाद विचार होता है । धर्माचरण के बाद दर्शन आता है । आचार के बिना कभी भी ज्ञान तेजोमय नहीं होगा वह निष्फल होगा ।

यदि कोई यथेष्टाचरण में प्रवृत्त होता है और यह कहता है – योगरतो वा भोगरतो वा.... । तो वह ज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञानी कभी भी शास्त्रविरुद्ध आचरण नहीं कर सकता । वह कभी अशुभ आचरण नहीं कर सकता । यह ही सुरेश्वराचार्य कहते हैं –

सतत्व का अर्थ है तत्त्व । अद्वैत सतत्व = अद्वैत तत्त्व । बुद्ध = ज्ञानी ।

(अद्वैत-सतत्वस्य) अद्वैत-तत्त्व को (बुद्ध) जानने वाला, ज्ञाता, यदि ज्ञान के नाम पर (यथेष्टाचरणम्) स्वेच्छाचार करता है तो (अशुचि भक्षणे) अशुच भक्षण (भक्षण केवल उदाहरण के लिये लिया है, अर्थ है कि कोई भी आचरण में) करने में अथवा अशुभ आचरण करने में (शुनाम्) एक कुत्ते में (तत्त्वदृशाम् च) और तत्त्वदर्शी में (कः भेदः) क्या भेद है? अर्थात् यदि अशुभ आचरण कर रहा है तो वह ज्ञानी नहीं है । ज्ञानी होने की आड़ में वह केवल अपनी अशुभ वासनाओं की पूर्ती कर रहा है ।

अगले प्रमाण में यह बताया गया है कि वही ज्ञानी है जिसको ज्ञानी होने का भी अभिमान नहीं है । वही वास्तव में ब्रह्मज्ञानी है जिसने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है और उसका अभिमान भी त्याग दिया है (अतः अपने आपको ज्ञानी बताने का ही अर्थ है कि वह व्यक्ति ज्ञानी नहीं है फिर यदि ज्ञानी बताकर अशुभ आचरण कर रहा है तो श्वान के समान ही है) ।

ब्रह्मवित्त्वं = ब्रह्मवित् होना, 'हम ब्रह्मवित् हैं' ऐसा भान ।

जिसनें (ब्रह्मवित्त्वं) 'हम ब्रह्मविद् हैं' ऐसा भान (मुक्तवा) छोड़ दिया है (सः) वह ही, वास्तव में (आत्मज्ञः) आत्मज्ञानी है (न च इतरः) और कोई नहीं । वृत्ति ज्ञान और अज्ञान दोनों से विलक्षण है ज्ञानी ।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवद् अनुवर्तन्ते।।२२४।।

तदानीम् अमानित्वादीनि ज्ञानसाधनानी अद्वेषटत्व आदयः सद्गुणाः च अलङ्कारवत् अनुवर्तन्ते ।

ज्ञानी की कोई इच्छा नहीं रह गई है पर पूर्ववासना के द्वारा सद्गुण की ही अनुवृत्ति होती है । साधक को प्रयत्नपूर्वक सद्गुणों का आचरण करना पड़ता है । ज्ञानी के लिये यह सद्गुण स्वाभाविक हो जाते हैं ।

(तदानीम्) ज्ञानावस्थायाम् ज्ञाननिष्ठायाम् (अमानित्वादीनि) जो अमानित्वम् आदि गुण गीता १३ अध्याय में कहे गये है (ज्ञानसाधनानि) और जो कि ज्ञान के साधनभूत हैं और (अद्वेष्टत्व आदयः) अद्वेष्टृत्व आदि जो की गीता मे कही गई हैं - अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङकारः समदुःखसुखः क्षमी – (सद्गुणाः च) जो कि सद्गुण है यह (अलङ्कार) अलङ्कार हो जाते हैं ।

यहां दो भाग हैं –

- ज्ञान के साधन – आमानित्वम् आदि क्योंकि यह १३ अध्याय में भगवान द्वारा ज्ञान के साधन बताये गये हैं । यह स्थिर प्रज्ञ के साधन हैं ।
- अद्वेष आदि यह सद्गुण जो कि ज्ञानी के लक्षण हैं और अध्याय १२ में बताये हैं । यह स्थिरप्रज्ञ के लक्षण हैं ।

वास्तव में साधन और लक्षण एक ही हैं पर इनको साधन तब कहते हैं जब यह साधका द्वारा प्रयत्न करके आचरित होते हैं और लक्षण तब कहे जाते हैं जब ज्ञानी द्वारा स्वाभावतः स्वतः ही आचरित होते हैं । केवल यह ही अन्तर हैं कि एक में प्रयत्न है और दूसरे में स्वाभाविक है । Deliberate efforts vs spontaneous action.

तदुक्तम् - "उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः । अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥" इति (नैष्कर्म्यसिद्धिः ४ । ६९) ॥२२५॥

यहां पर बताया है कि ज्ञानी पुरुष में सारे गुण स्वाभाविक ही होते हैं उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता अतः वह साधनरूप नहीं होते अयत्नतः ही होते हैं ।

(उत्पन्न आत्म अवबोधस्य) = उत्पन्नः आत्मबोधः यस्मिन् सः, तस्य । ज्ञानिनः । (अस्य) इसके ज्ञानिनः (हि अद्वेष्टृत्व आदयः गुणाः) अद्वेष आदि गुण (अयत्नतः) बिना प्रयास के, स्वाभावतः, स्वाभाविक अवशः (भवन्ति) होते हैं (न तु साधनरुपिणः) साधनरूप में नहीं ।

२२६

किं बहुनायं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःख-लक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्य-संकाराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभास-रहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते।।२२६।।

किम् बहुना अयम् देहयात्रामात्र-अर्थम् इच्छा-अनिच्छा पर-इच्छा-प्रापितानि सुखदुःख-लक्षणानि आरब्ध-फलानि अनुभवन् अन्तःकरण आभासादीनाम् अवभासकः सन् तद् अवसाने प्रत्यग् आनन्द पर-ब्रह्मणि प्राणे लीने सति अज्ञान-तत्कार्य संस्काराणाम् अपि विनाशात् परम कैवल्यम् आनन्दैकरसम् अखिलभेद प्रतिभास-रहितम् अखण्ड-ब्रह्म

(किम् बहुना) अब और अधिक क्या कहा जाय ।

किस प्रकार के प्रारब्ध फल इति चेत् – (सुखदुःख लक्षणानि) सुख और दुख रुपी लक्षण वाले ।

इन प्रारब्ध को तीन भाग में विभाजित किया है –

- इच्छा - अनुवर्तित शुभ वासनाओं के कारण अपनी इच्छा से किये हुए कर्म । लोकसंग्रह इच्छा प्रारब्ध जैसे शंकराचार्य मठ को आगे बढ़ाना या फिर आश्रम खोलना या कोई ग्रन्थ लिखना आदि । लोगों की इच्छा के अनुरूप ।
- अनिच्छा – जो कि न तो ज्ञानी करना चाहता न तो लोग ही चाहते हैं जैसे रोगी होना ।
- परेच्छा - ज्ञानी की इच्छा नहीं है परन्तु लोगों की इच्छा के कारण उनकी विनती मान कर किये हुए कर्म । परन्तु यहां खुशीपूर्वक करता है क्योंकि ज्ञानी तो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

(देहयात्रामात्र) केवल देह-यात्रा-मात्र (अर्थम्) के लिये, क्योंकि अब कोई पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिये नहीं रह गया (आरब्ध फलानि) प्रारब्ध फलों का (अनुभवन्) अनुभव करता हुआ (अन्तःकरण आभास) अन्तःकरण का चिदाभास ((आदीनाम्) शरीर जगत् सुखदुःखादि अनुभवों को (अवभासकः) प्रकाशकः, साक्षी (सन्) की तरह (तद् अवसाने) प्रारब्ध का अन्त होने पर, प्रारब्ध का अन्त हो गया इसका क्या लक्षण है – तो कहते हैं – (प्रत्यग् आनन्द पर ब्रह्मणि प्राणे लीने सति) जब परब्रह्म में प्राणों का लय हो जाता है, अज्ञानी के प्राणों का लय नहीं होता वह दूसरा जन्म ले लेते हैं, (अज्ञान) अज्ञान और (तत् कार्यं संस्काराणाम् अपि) अज्ञान के कार्यभूत सञ्चित-आगामी-प्रारब्ध संस्कार आदि का भी (विनाशात्) विनाश होने पर (परम कैवल्यम्) परम मोक्ष जो कि (आनन्द एक रसम्) अद्वैत आनन्द है (अखिल भेद प्रतिभास रहितम्) – सारे भेदों की प्रतीति अथवा अनुभव से रहित होकर, अभी तक अन्तःकरण था अतएव द्वैत का अनुभव था पर अब अन्तःकरण नहीं रहा तो कोई प्रतीति नहीं रही, (अखण्ड ब्रह्म अवतिष्ठते) अखण्ड ब्रह्म में स्थित हो जाता है । इस कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीर से मुक्ति मिल जाती है अब भी वह रहता है क्योंकि अमरत्व को प्राप्त कर लिया है । इस अवस्था में जीवभाव समाप्त हो जाता है एक अद्वितीय चैतन्य ही शेष रहता है । यह अद्वितीय शुद्ध और निर्मल होने के कारण कैवल्य कहलाता है । वह ब्रह्म में एकीकार हो जाता इस जगत् में रहता है परन्तु अब ब्रह्मरूप में सारे जीवों के रूप में जगत् का अनुभव करता है । इसको विदेह मुक्ति कहते हैं ।

इसका श्रुति प्रमाण देते हैं ।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति "(बृ उ ४ । ४ । ६) "अत्रैव समवनीयन्ते "(बृ उ ३ । २ । ११) "विमुक्तश्च विमुच्यते "(कठ उ ५ । १) इत्यादिश्रुतेः।।२२७।।

(तस्य) जीवन्मुक्तस्य (प्राणाः) प्राण (न उत्क्रामन्ति) दूसरे शरीर में नहीं जाते हैं । फिर उन प्राणों का क्या होता है? (अत्र एव) ब्रह्म में ही (सम्-अवलीयन्ते) लीन हो जाते हैं अपना जीवत्व त्याग कर के । 'नीयन्ते' ही पढ़ा जयेगा यह वेद पाठ के अनुसार है पर वह शब्द है 'लीयन्ते' । (विमुक्तः) जीवन्मुक्तः (विमुच्यते) विदेहमुक्त हो जाता है ।

इति सदानन्द योगीन्द्र विरचितो वेदान्तसारनाम ग्रन्थः समाप्तः ।

Notes and Definitions

समस्ति (समष्टि) = सम्यक अस्ति = sum total of = सब को मिलाकर

व्यष्टि (वि + अस्ति) = व्यस्ति = अलग अलग or separate

वृत्ति का अर्थ है प्रवृत्ति और प्रवृत्ति का अर्थ है function

व्यपदेशः । व्यपदिश्यते अनेन इति व्यपदेशः । करणं व्युत्पत्तिः । व्यपदेश का अर्थ है नाम देना कि अब इसको हम इस नाम से पुकारेंगे (व्यप्दिश्यते) ।

तादत्मय करके = अभिमान करके (अभिमानी) एक ही बात है । तादात्म्य रखना = अभिमान रखना

तादात्म्य = तद् आत्म

योग सूत्रों मे **प्रत्यय** का अर्थ है – अनुभव ॥

कारण शरीर में कारण का मतलब वजह नहीं है (जैसे आप यहां क्यों आये) । अपितु यह कारण और कार्य दोनों है । कारण = cause । कारण = आधार, किससे उत्पन्न हुई है । जैसे घट का कारण मिट्टी है जैसे आभूषण का कारण सुवर्ण है जैसे तरंग का कारण जल है ।

ईसी प्रकार कार्य का अर्थ परिणाम है ।

Kaarana shareera hamari prakriti hai svabhaava hai, yeh vaasana hai. Prarabdha aur sanchit karma bhi kehte hain. Praarabdha ke anusaara hi hamare andar kaamnayen aati rahati hain. Kaamana kaarana shareer se utpanna hoti hai.

Kamnayon ko utpaana karane wala saamarthya hi vasana kehlata hai. Wahi avidya jab hamare poorva janmon ke anusaara prarabdha hai who hamare aatma swaroop ko acchadit kar deti hai isliye avidya hai.

Kamanaa utpanna karke sukhdukh kaa bhog karata hai isliye prarabdha ya vaasna kehte hain. Jo baat ho rahi hai us baat ko samajhane ke liye alag alag naam hain.

Shankaranand part 4 after 35 min

निर्विकल्प का अर्थ है जिसका रूपान्तरण न हो जो कभी रूप नहीं बदलता ।

Part 6 50:00 min onwards

संसर्ग – सामीप्य, मिलाप, संपर्क, संगति, सम्मिश्रण

संसर्जनम् – सम्मिश्रण, छोड़ना, परित्याग करना

सक्तिः = विषयेषु प्रीतिः । Liking an object and claiming it as mine. Some commentators also say mamkara because when pritih is there and liking is there I would naturally like to get associated with that object.

कर्म विधान

यहां पर कर्म का अर्थ 'कार्य करने से' नहीं है अपितु पुण्य-पाप से है जो कि अदृष्ट हैं ।

जब हम कोई कर्म करते हैं तो उसके दो कर्म-फल होते हैं एक तो दृष्ट फल और दूसरा अदृष्ट फल । दृष्ट फल तो वह भौतिक फल होता है जो हमको दिखता है । हर कार्य किसी हेतु और भावना से किया जाता है – इस हेतु और भावना के अनुसार जो संस्कार हमारे अन्तःकरण पर मुद्रित होते हैं वह अदृष्ट फल होते हैं ।

जैसे किसी व्यक्ति नें दूसरे व्यक्ति को क्षति पहुंचाने के हेतु से धक्का दिया तो यहां पर गिरने वाले व्यक्ति को चोट लगी अतः जिस व्यक्ति नें धक्का दिया उसके खाते में यह पाप-कर्म अथवा पाप के नाम से पूंजी जमा हो गई – यह अदृष्ट फल हुआ ।

अब एक दूसरे उदाहरण में एक व्यक्ति नें देखा कि दूसरा व्यक्ति बस के रास्ते में हैं और उसका जीवन बचाने के लिये उसे धक्का दिया । यहां पर भी गिरने वाले व्यक्ति हो चोट आई परन्तु हेतु और भावना के अनुरूप यह कर्म धक्का देने वाले व्यक्ति के खाते में पुण्य की तरह अर्जित हो गई ।

अतः दृष्ट फल एक ही होने के बावजूद अदृष्ट फल अलग अलग हुआ ।

जो अच्छे अदृष्ट फल होते हैं वह पुण्य कहलाते हैं और जो बुरे अदृष्ट फल होते हैं वह पाप कहलाते हैं ।

हर कर्म के पीछे जो हेतु और भावना होती है उसके अनुसार हम पाप या पुण्य अर्जित करते हैं (हमारे अन्तःकरण में संस्कार पड़ते रहते हैं) । यह पाप और पुण्य हमारे खाते में जमा होते रहते हैं और समय आने पर सुखप्रद या दुखप्रद अनुभूति प्रदान करते हैं । अदृष्ट पुण्पं दुःखं ददाति अदृष्ट पुण्यं सुखं ददाति ।

अतः कर्मफल दो प्रकार के होते हैं – दृष्ट फल और अदृष्ट फल । अदृष्ट फल दो प्रकार का होता है पाप और पुण्य ।

यह पाप और पुण्य बीज रूप में हमारे अन्तःकरण मे (वासना के रूप में या कारण शरीर) सञ्चित रहते हैं और समय आने पर यथानुसार अनुभूति प्रदान करते हैं ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह पुण्प और पाप कितने समय में फलीभूत होते हैं? इसका कोई निश्चित समय नहीं है । कुछ एक दिन में फलीभूत हो सकते हैं कुछ के लिये कई साल लग जाते हैं और कुछ के लिये कई जन्म लग जाते हैं । अतः जब तक यह फलीभूत नहीं होते तब तक बीज रूप में जमा रहते हैं । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि किसी भी बीज को अङ्कुरित होने के लिये उसके अनुरूप वातावरण मिट्टी खाद पानी आदि चाहिये होता है । इसके अलावा यह बीज पर भी निर्भर करता है । जैसे किसी फल का बीज कुछ ही महीनों में फल देने लग जाता है और कुछ हो कई साल लग जाते हैं ।

"कर्माणि कतिविधानि सन्तीति चेत् आगामिसञ्चितप्रारब्धभेदेन त्रिविधानि सन्ति ।"– तत्त्वबोध ।

सञ्चित कर्म

जो कर्म इस जन्म में फलीभूत नहीं होते हैं वह कारण/बीज रूप में विद्यमान रहते हैं । अतः जो अनन्त जन्मों से पाप और पुण्य सञ्चित है (जिन्होंने फल नहीं दिया है) उनको सञ्चित कर्म कहते हैं ।

इन सञ्चित कर्मों में से कुछ कर्म फल देने के लिये तयार होते हैं । इनको ही वासना या पूर्वजन्म-संस्कार कहते हैं ।

"सञ्चितं कर्म किम्? अनन्तकोटिजन्मनां बीजभूतं सत् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत् सञ्चितं ज्ञेयम् ॥" - तत्त्वबोध ।

प्रारब्ध कर्म

इन सञ्चित कर्म में से जो कर्म इस जन्म में फल देने के लिये तयार हो जाते हैं उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं ।

अतः इस जन्म के प्रारब्ध कर्म जन्म के पूर्व ही तयार हो जाते हैं । जीवन के अन्तराल में सञ्चित कर्म प्रारब्ध कर्म में परिवर्तित नहीं होते हैं ।

इन प्रारब्ध कर्म से ही निर्णय होता है कि हमको कौन सी योनि में जन्म मिलेगा । स्त्री होंगे या पुरुष होंगे । कौन हमारे माता-पिता और बान्धव आदि होंगे । देह स्वस्थ होगी या रोगी होगी । जन्म स्थान और जन्म का समय और जीवन काल आदि सब कुछ प्रारब्ध के अनुसार पूर्व निर्धारित होता है ।

अतः जब कोई एसा (अच्छा या बुरा) अनुभव होता है जिसके लिये हमनें कोई कार्य नहीं किया है तो उसका कारण प्रारब्ध होता है ।

प्रारब्ध को भोगने के लिये देह की आवश्यकता होती है और इसी कारण से जीव को जन्म लेना पड़ता है । देह केवल प्रारब्ध कर्म भोगने के लिये होती है । प्रारब्ध कर्म का क्षय केवल भोगने से ही होता है ।

प्रारब्धं कर्म किमिति चेत् । इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एव सुखदुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति ॥ -- तत्त्वबोध ।

आगामी कर्म

जब हम प्रारब्ध कर्म कर रहे होते हैं तो उसमें, और जो सुख प्राप्ति के लिये और कर्म करते हैं, उसमें कतृत्व और भोक्तृत्व अभिमान के कारण और कर्म सञ्चित कर लेते हैं (अन्तःकरण में संस्कारित हो जाते हैं) यह आगामी कर्म कहलाते हैं । वस्तुतः जो और कर्म हम करते हैं वह भी हमारी वासनाओं के अनुरूप ही होते हैं । यद्यद् करोति जन्तुः तत्तद् कामस्य चेष्टितम् । अतः (प्रस्तुत) जीवन पर्यन्त आदि से अन्त तक जो कर्म करते हैं वह आगामी कर्म कहलाते हैं । आगामी वह पुण्य पाप होते हैं जो इस जन्म में सञ्चित करते हैं । इन आगामी कर्म में से भी कुछ इस जन्म में फल देते हैं और जो बच जाते हैं वह मृत्यु के समय सञ्चित कर्म में जमा हो जाते हैं ।

अतः हम अपने जीवन काल में सारे प्रारब्ध कर्म का भोग करते हैं और कुछ आगामी कर्म का भोग करते हैं । जो आगामी कर्म बच जाते हैं वह पुनः सञ्चित कर्म के रूप में जमा हो जाते हैं ।

पुनः उन सञ्चित कर्म में से कुछ प्रारब्ध कर्म तयार होते हैं और उनके अनुसार अगला जन्म प्राप्त होता है ।

कर्म विधान के कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु

यदि हम कर्म के विधान को समझ लें तो जीवन के अनुभवों में शान्ति का अनुभव होता है और कर्म करते समय सावधानी पूर्वक कर्म करते हुये मोक्ष की तरफ अग्रसर हो सकते हैं ।

कर्ता ही भोग्ता होता है

इस विधान के अनुसार यह सिद्ध होता है कि हमारे जीवन में जो कुछ भी सुखदुःखादि अनुभव होते हैं वह हमारे ही प्रारब्ध और आगामी कर्मों के कारण होते हैं अतः हम किसी और को इसका दोष नहीं देना चाहिये और सारे अनुभवों का दोषी हम ही होते हैं । ईश्वर भी कर्म के अध्यक्ष होते हैं अतः विधि का विधान भी कहते हैं परन्तु किसी के कर्मों के हस्तक्षेप करने का अधिकार ईश्वर के पास भी नहीं है ।

अतः वर्तमान के भोक्ता का कारण पूर्व का कर्ता है जो की हम ही हैं । इसको कई प्रसंगों मे कहा गया है –

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा । अहं करोमीति वृथाऽभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥ अध्यात्मरामायण २.६.६

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥ तु०रा० अयोध्याकाण्ड ॥९१॥

भविष्य हमारे हाथ में है

यदि मेरे ही पूर्व कर्मों से मेरे वर्तमान का निर्णय हुआ है तो इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि मेरे वर्तमान कर्मों से मेरे भविष्य का निर्णय होगा । अतः वेद यह कहते हैं की – अपने भविष्य को अपने हाथों से बनाओ । अतः destiny/fate कुछ भी नहीं होता । यह सब कोरी कल्पनायें हैं । लोग कहते हैं जो भाग्य में है वही मिलेगा यह प्रारब्ध कर्मों के अनुसार सही है परन्तु जो हम आज कर्म करेंगे वह हमारे भविष्य का निर्माण करेंगे । अतः हमारी जो चेष्टा होती है वह हमारे वासना से प्रेरित अवश्य होती है परन्तु हमारे हाथ में भी बहुत कुछ होता है ।

हमारे अमीर घर में जन्म लिया है या गरीब घर में जन्म लिया है यह तो प्रारब्ध से आता है परन्तु गरीब घर में होते हुए भी यदि हम मेहनत करें तो अमीर घर वाले से आगे निकल सकते हैं ।

भगवान कृष्ण भी यहीं कहते हैं – उद्धरेदात्मनात्मानं ।

अतः हमको इसी क्षण से अपने जीवन को अपने हाथ में लेना चाहिये ।

कर्म फल और कर्ता का संबंध

जो हमको फल प्राप्त होता है वह प्रारब्ध और आगामी कर्म के अनुसार होता है । प्रारब्ध कर्म पूर्व जन्म में हमनें किया थे और उनका फल अब भोग रहे हैं । आगामी कर्म इसी जीवन के हैं और उनका फल भी अभी भोग रहे हैं । अतः यदि हम कोई ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जिसने जीवन में कोई बुरा कर्म नहीं किया परन्तु जीवन में केवल आपदा ही आती है तो इसका अर्थ यह है की यह उसके ही द्वारा पूर्व जन्म कें किये गये बुरे कर्मों का फल है जो कि प्रारब्ध के रूप में फल दे रहे हैं । इस उदाहरण पाण्डव हैं जिन्होंने कोई गलत काम नहीं किया फिर भी १२ वर्ष का वनवास भोगा ।

ज्योतिष

हमारे अनुभव आगामी और प्रारब्ध कर्म के अनुसार होते हैं । प्रारब्ध फल दिखते नहीं है अतः अदृष्ट होते हैं । यदि कोई अच्छा या बुरा अनुभव होता है तो हम कहते हैं कि यह प्रारब्ध के अनुसार हैं और हम प्रारब्ध नहीं जान सकते ।

परन्तु शास्त्र कहते हैं कि हम प्रारब्ध जान सकते हैं । यद्यपि शास्त्र कहते हैं कि यदि प्रारब्ध हमारे लिये जानना श्रेयस्कर होता तो ईश्वर नें वह शक्ति हमें दी होती परन्तु ज्योतिष के द्वारा प्रारब्ध फल जाना जा सकता है ।

अतः व्यक्ति के जातक में ग्रहों की स्थिती से उसके प्रारब्ध का अनुमान किया जा सकता है । जन्म के समय जो ग्रहों की स्थिती होती है उससे जीवन काल के प्रारब्ध फलों के बारे में जाना जा सकता है ।

ग्रह के कारण हमको सुख या दुख नहीं मिलता है ग्रह केवल सूचित करते हैं । जैसे घड़ी सूर्योदय और सूर्यास्त को सूचित करती है घड़ी के कारण से सूर्यास्त और सूर्योदय नहीं होते हैं । अतः वे ज्ञापक होते हैं जो सूचित करते हैं ।

हमार भविष्य हमारे प्रारब्ध और आगामी कर्मों के अनुसार होता है । अतः हम अपने आगामी कर्मों के अनुसार प्रारब्ध कर्मों पर प्रभाव डाल सकते हैं । यदि हम ऐसा आगामी कर्म करें जो कि हमारे प्रारब्ध को प्रभावित करे तो उसे **प्रायश्चित्त** या **परिहार** कर्म कहते हैं । यह वैसे ही जैसे की धूप में जाते समय छाता लेकर जाना । हम सूर्य को कुछ नहीं कर सकते पर छाते की मदद से उसका प्रभाव कम कर सकते हैं । अतः सूर्य प्रारब्ध कर्म हुआ और छाता प्रायश्चित्त कर्म हुआ ।

अब प्रश्न यह आता है कि क्या सारे प्रारब्ध के लिये परिहार कर्म होते हैं । यह इस प्रकार का प्रश्न है कि जैसे क्या सारे रोगों के लिये दवा होती है?

इसका उत्तर भी ऐसा ही है । कुछ ऐसे रोग होते हैं जिसको पूरी तरह से निर्मूल किया जा सकता है । जैसे पहले मलेरिया जानलेवा था पर अब साधारण सी दवा से उसको ठीक किया जा सकता है । कुछ ऐसे भी रोग होते हैं जिनके लिये रोकथाम होती है है जैसे मधुमेह को हटाया नहीं जा सकता पर यदि दवा ली जाये और परहेज किया जाये तो उसका प्रभाव नहीं होगा । कुछ ऐसे भी रोग होते हैं जिनको कुछ नहीं किया जा सकता पर दवा से उनक दर्द या आघात कम किया जा सकता है जैसे टूटी हुई हड्डी ४० दिन में जुड़ती है और इसको कुछ नहीं कर सकते अथवा जैसे गर्भ ९ मास का होता है और इसको कुछ नहीं कर सकते पर इसका दर्द या आघात कम कर सकते हैं ।

इसी प्रकार शास्त्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त कर्म से कुछ प्रारब्ध को समाप्त किया जा सकता है, कुछ की व्यवस्था की जा सकती है और कुछ का केवल आघात कम किया जा सकता है । यह निर्भर करता है की प्रारब्ध कर्म कैसे हैं और कितने शक्तिशाली हैं ।

प्रायश्चित्त या परिहार कर्म किसी स्थिती विशेष का उपचार करने के लिये होते हैं । इस प्रकार शास्त्रों में कई बुरे कर्मों का प्रायश्चित्त का विधान है ताकि वह फल न दें ।

कर्म क्षय और पुनर्जन्म

किसी भी जन्म में हम सारे कर्मों का क्षय नहिं कर सकते । केवल प्रारब्ध कर्म पूरी तरह से क्षय हो जाते हैं परन्तु सञ्चित कर्म बचे रहते हैं और आगामी कर्म भी सञ्चित कर्म में जुड जाते हैं ।

अतः पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी अटल है क्योंकि जब तक सारे कर्म समाप्त नहीं होंगे तब तक जन्म लेना पड़ेगा और उस जन्म में किये गये आगामी कर्म जिन्होंने फल नहीं दिया है वह फिर सञ्चित में जुड जायेंगे और यह चक्र अनादि काल तक चलता रहता है ।

केवल ज्ञानी होने पर ही सारे कर्म समाप्त होते हैं और उस चक्र से मुक्ति मिलती है जिसको मोक्ष कहते हैं ।

इसी प्रकार जो जानवरों की योनी होती है वह प्रारब्ध कर्म की क्षय योनि होती है ।

एक कुत्ता होता है जो अमीर घर में पालतु होता है और सारे सुख साधन भोगता है महंगी गाड़ियों से चलता है जो कि मनुष्यों को भी दुर्लभ हैं और दूसरा कुत्ता गली मे फिरता है जो की कचरे में सोता है । यह भी उसके पाप और पुण्य प्रारब्ध कर्म से निर्धारित होता है ।

परन्तु इन योनियों में आगामी कर्म नहीं होते हैं क्योंकि जानवर की प्रकृति निश्चित होती है और उसके अन्दर कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान नहीं होता है । इनमें अहंकार नहीं होता है इसलिये यह जानकर कोई काम नहीं कर्ते हैं यह प्रकृति के द्वारा नियमित होते हैं इसलिये मांसाहारी प्राणी को हत्या का पाप नहीं लगता । उनको कर्म का अधिकार नहिं होता है ।

इससे यह नहीं समझना चाहिये की कुत्ते को मुक्ति मिल जायेगी क्योंकि वह वेदान्त का ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकते है और अपने सञ्चित कर्म का क्षय नहीं कर सकते हैं । अतः सञ्चित कर्म के कारण उनकों पुनः जन्म लेता पड़ता है । उन सञ्चित कर्मों से जो भी कर्म प्रारब्ध के रूप में आगे आयेंगे उसके अनुसार उनको नया जन्म मिलेगा । अतः पुनरपि जननं पुनरपि मरणम् ।

केवल मनुष्य जन्म में ही ज्ञान प्राप्ति के द्वारा सभी प्रकार के कर्मों का क्षय करके मुक्ति मिल सकती है ।

मरण के समय चिन्तन के अनुसार जन्म

इससे यह भी अनुमान लगता है कि मरणकाल में व्यक्ति जिस वस्तु का स्मरण करके प्राण त्यागता है उसी के अनुसार अगला जन्म मिल सकता है । क्योंकि वह संस्कार सबसे आगे होगा मृत्यु के बाद । यथा वृत्ति तथा आकृति ।

मरण के बाद जब सारे कर्म सञ्चित रूप में होंगे तब यह संस्कार जो ताजा ताजा पड़ा है यह आगे ही होगा और प्रारब्ध के रूप में आ जायेगा ।

अतः जीवन में प्रारब्ध और आगामी का कुछ हिस्सा (मनुष्य के लिये) क्षय हो जाता है । जो आगामी का बचा हुआ हिस्सा होता है वह सञ्चित कर्म में जुड़ जाता है । इन सञ्चित में से जो आगामी तयार होते हैं उनके अनुसार अगला जन्म होता है ।

जीवात्मा

जब प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाते हैं तो देह की मृत्यु हो जाती है । अतः स्थूल शरीर का नाश हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित विश्व भी नहीं रहता । मृत्यु के बाद कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर रहते हैं और उनमें प्रतिबिम्बित तैजस और प्राज्ञ भी रहता है और निरुपाधिक चैतन्य सर्वगत है अतः वह तो रहता ही है ।

अतः जीवात्मा = {निरुपाधिक चैतन्य + कारण शरीर + सूक्ष्म शरीर + तैजस + प्राज्ञ} मृत्यु के बाद रहता है । यह जीवात्मा प्रारब्ध कर्म के अनुसार दूसरी स्थूल देह प्राप्त करता है और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है ।

अतः दोनों उपाधि (सूक्ष्म और कारण शरीर) और उनमें उपहित दोनों चैतन्य (तैजस और प्राज्ञ) एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाते हैं और निरुपाधिक चैतन्य तो सर्वगत है अतः उसके कहीं जाने का प्रश्न नहीं उठता । पुनरपि जननं पुनरपि मरणम् ।

ज्ञानी के लिये कर्म क्षय